आचार्य
क्षेमेन्द्र

('औचित्य विचारचर्चा,' 'कवि-कंठाभरण' और 'सुवृत्त-तिलक' कृतियों का समीक्षासहित अनुवाद)

लेखक
मनोहरलाल गौड़
एम. ए., पी-एच. डी.
(अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग,
धर्म समाज कालिज, अलीगढ़)

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर,
अलीगढ़

मूल्य [illegible])

विषय सूची

प्राक्कथन

आचार्य क्षेमेन्द्र का संस्कृत साहित्य में अपना एक पृथक् ही मार्ग है और पृथक् ही स्थान। साहित्य की जिस दिशा में वे चले हैं उसमें दूसरा कोई नहीं गया। उनसे आगे बढ़ जाने का तो फिर प्रश्न ही कहाँ उठता है? उनके दो रूप हैं—आचार्य और कवि। दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित हैं, एक दूसरे से सह-सम्बद्ध हैं। क्षेमेन्द्र ने आचार्य रूप में काव्य के जो आदर्श, जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उन्हीं के अनुसार काव्य रचना की है और जैसा काव्य प्रणीत किया है वैसे ही काव्यादर्श तथा काव्यसिद्धान्त स्थिर किये हैं। वे व्यावहारिक समीक्षक हैं और सिद्धान्ती कवि।

उनकी अपनी दिशा है, लोक जीवन की दिशा। जनसाधारण के दैनिक जीवन का चित्रण, उसके गुणों की प्रशंसा तथा दोषों पर व्यंग्य करना, उसके परिष्कार के व्यावहारिक उपायों का सुझाव, जीवन के यथार्थ विविध रूपों को व्यापक तथा विशाल पद्धति से चित्रित करने वाले रामायण, महाभारत एवं बृहत्कथा का सूक्ष्म रूपान्तर उपस्थित करना और जीवन को ही आधार बना कर काव्य के समीक्षा-सिद्धान्त की स्थापना करना आदि कार्य उन्हें साधारण लोकजीवन का कवि सिद्ध करते हैं। उनकी यह विशेषता संस्कृत साहित्य में इसलिये और अधिक महत्त्व पूर्ण बन गई है कि उसमें आदर्श-वादिता, असाधारण के प्रति उत्सुकता, आमुष्मिकता, कलात्मकता आदि तत्व बड़ी प्रचुरता से संनिविष्ट हैं। संस्कृत के अर्वाचीन भाग में ऐसे कवि ढूँढ़ने पर भी संभवतः नहीं मिलें जिनकी रचनाओं से उनके समय के समाज का पूरा परिचय प्राप्त हो सके। क्षेमेन्द्र काल की दृष्टि से अर्वाचीन होकर भी काव्य की दृष्टि से प्राचीन तथा सहज हैं। उनके काव्य अपने समय के सामाजिक जीवन के सजीव इतिहास हैं।

यह तो इनके कवि का स्वरूप है। इसी जैसा असाधारण उनका आचार्यत्व है। आचार्य रूप में उन्होंने तीन पुस्तकें लिखी हैं—'औचित्य विचार चर्चा' 'कवि कण्ठाभरण' और 'सुवृत्त तिलक'। पहली पुस्तक में संयत जीवन के मानदण्ड

से काव्य समीक्षा का मार्ग स्थापित किया है। वह है औचित्य मार्ग। आचार्य ने वाणी के उन सभी रूपों में, जिन्हें काव्य समझा जाता है, औचित्य के दर्शन किये हैं। औचित्य के अंतर्गत अलंकार, रस गुण, दोष, भाव, रीति आदि सब तत्वों को समेट लिया गया है। प्राचीन आचार्यों की स्थापनाओं का खंडन नहीं किया, उनका समावेश कर उन सबसे अधिक व्यापक तत्व औचित्य की स्थापना की है। यह तत्त्व जीवनगत है। जो वस्तु जिसके अनुरूप है, सदृश है वह उसके उचित है। इसी का धर्म औचित्य है। इसका परीक्षण प्रत्यक्ष जीवन में करना चाहिये। इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की समीक्षा में काव्य को जीवन के प्रकाश में, उसकी सापेक्षता में देखने का मार्ग खोला है। हमारे प्राचीन आदर्शवादी समीक्षा मार्गों के क्षेत्र में यह व्यावहारिक समीक्षा दृष्टि कम महत्व की नहीं है।

दूसरी पुस्तक कवि शिक्षा पर लिखी गई है। इसमें क्षेमेन्द्र एक सधे हुये अध्यापक के रूप में विद्यमान हैं काव्य कला का अभ्यास करने वालों के लिये सरल, उपयोगी उपाय इसमें बताये गये हैं। ये सौ उपाय अत्यन्त उपयोगी हैं और इनमें संगत जीवन की, अपनी प्राचीन संस्कृति की, समाजिक मान्यताओं और आदर्शों की स्पष्ट झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त काव्य के स्वरूप आवश्यक तत्त्व, उसकी रचना के सरल व्यावहारिक उपाय भी बड़े अनुभव के आधार पर बताये हैं। इनकी उपयोगिता शाश्वत है।

तीसरी पुस्तक 'सुवृत्त-तिलक' में छन्द विचार है जो अनेक दृष्टियों से नवीन प्रयास है। एक तो इसमें उन्हीं छन्दों पर विचार किया है जो साहित्य में व्यवहृत हैं। केशव कवि की भांति जो छन्दों की प्रदर्शनी लगाना चाहें उसकी बात और है नहीं तो काव्य में कुछ ही छन्दों का प्रयोग हुआ करता है। अतः सब छन्दों के अनावश्यक लक्षण उदाहरणों की सूची देना क्षेमेन्द्र जैसे व्यावहारिक व्यक्ति ने उपयोगी नहीं समझा। दूसरे छन्दों के भाव, सापेक्ष गुण दोष, उनके लिये शब्दचयन तथा उनकी प्रयोग विधि पर मौलिक विचार किया है। यह छन्द विचार का नया मार्ग है। संस्कृत के सभी छन्द ग्रन्थों में इस पुस्तक का अपना विशिष्ट स्थान है। जो इसमें है वह अन्यत्र कहीं नहीं।

इस प्रकार समीक्षा-सिद्धान्त, कवि शिक्षा और छन्द विचार इन तीन प्रस्थानों पर मौलिक उद्भावनायें देकर क्षेमेन्द्र ने अपने आचार्य स्वरूप की स्थापना की है। वही प्रस्तुत पुस्तक 'आचार्य क्षेमेन्द्र' में दिया गया है। इसमें उक्त तीनों पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद है और तीनों प्रस्थानों के विकास तथा समीक्षा पर विस्तृत भूमिका दी है। हिन्दी जगत् के लिये इसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। भाषा सरल, सुपठ, बनाने का सजग प्रयास किया गया है। आशा है इससे साहित्य के प्रेमियों को लाभ होगा।

लेखक उन सब विद्वानों का कृतज्ञ है जिनके परामर्श, सहायता आदि से इस पुस्तक के प्रणयन में लाभ उठाया गया है। पूज्य डा० सूर्यकान्त जी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग हिन्दू विश्व विद्यालय का विशेष रूप से आभार नत हूँ जिसकी क्षेमेन्द्र विषयक रचना से प्रेरणा और सहायता दोनों मिली है। धर्मसमाज कालिज अलीगढ़ के प्रधानाचार्य आदरणीय वंशगोपाल जी झिंगरन ने 'आर्य भारती' के संरक्षक के नाते इस कार्य में जो सत्प्रेरणा दी है उसके लिये लेखक उनका कृतज्ञ है। पुस्तक के प्रकाशक पं० बद्रीप्रसाद जी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रयत्न से पुस्तक प्रकाश में आ सकी है।

—लेखक

भूमिका

१—जीवनवृत्त

क्षेमेन्द्र लौकिक प्रवृत्ति के कवि हैं। फलतः इनके काव्यों में अनेकत्र ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे इनके जीवनवृत्त पर प्रकाश पड़ता है; यद्यपि वे इतने पर्याप्त नहीं है कि इस विषय में इदमित्थम् कहकर कुछ निर्णय किया जा सके।

'कवि कण्ठाभरण' तथा 'औचित्य विचार चर्चा' के अन्त में कवि ने ग्रन्थ समाप्ति का समय श्रीमदनन्तराज नृपति का राज्यकाल बताया है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार यह ईसवी सन् १०२८ से १०६३ तक है। 'बृहत्कथा मंजरी' में कवि ने अभिनव गुप्त को अपना साहित्य गुरु बताया है। उनकी उक्ति है कि 'ज्ञान के समुद्र विद्या विवृति के लेखक आचार्यप्रवर अभिनव गुप्त से उन्होंने साहित्य सुना था।'

'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्य बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेर्विद्या विवृति कारिणः॥'

इस श्लोक में उल्लिखित 'विद्या विवृति' प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर लिखी गई टीका है जो सन् १०१५ में पूर्ण हुई थी। कविकण्ठाभरण के प्रारम्भ में मंत्र साधना की सार्थकता बताते हुए श्लेष द्वारा क्षेमेन्द्र ने संकेत किया है कि उन्हें कवित्व का लाभ अभिनव गुप्त से हुआ था।

एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकांजपेत्
क्षेमैन्द्रं स लभते भव्योभिनववाग्भवम्।

अभिनव गुप्त का समय निश्चित रूप से ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है।

क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमदेव ने इनके ग्रन्थ 'अवदान कल्पलता' का प्रणयन सन् १०५२ में बताया है। इन सब के प्रामाण्य से वे ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल के ठहरते हैं। गणना से इस तथ्य का भी अनुमान किया जाता है कि इन्होंने 'बृहत्कथा मंजरी' सन् १०३७ में 'समय मातृका' १०५० में तथा 'दशावतार चरित' १०६६ में लिखे थे।

'दशावतार चरित' इनकी अन्तिम रचना है। अतः १०७० के लगभग इनका मृत्युकाल अनुमित होता है। इसी प्रकार सन् १०१४ में अभिनव गुप्त से साहित्य शिक्षा लेने वाले कवि की आयु यदि २५ वर्ष की भी मानली जाय तो वे दसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में सन् ९९० के लगभग उत्पन्न हुए थे। इन सब प्रमाणों से इनका जीवनकाल सन ९९० से १०७० तक तथा काव्य काल १०१५ से १०६६ तक स्थिर होता है।

अपने परिवार का परिचय इन्होंने स्वयं दिया है। इनके पिता प्रकाशेन्द्र थे। वे काश्मीर में इतने प्रसिद्ध थे कि उस भूभाग का प्रकाश उन्हें कहा जाता था। इनका यज्ञानुष्ठान निरंतर चलता रहता था। उन्होंने ब्रह्माजी का एक मन्दिर बनवाकर उसमें षोडशमातृकाओं की प्रतिष्ठा की थी और उसी मन्दिर में गौ, भूमि तथा मृगचर्म का ब्राह्मणों को दान देते देते वे पंचत्व को प्राप्त हो गए थे। क्षेमेन्द्र के पितामह सिन्धु तथा प्रपितामह भोगेन्द्र थे। वृद्ध प्रपितामह नरेन्द्र थे जो जयापीड के कर्मचारी थे। भाई का नाम चक्रपाल था।

वैसे तो क्षेमेन्द्र ने अपने को 'सर्व मनीषी शिष्य' कहा है जिससे प्रतीत होता है कि ये गुणग्रहण के लिए दूसरों के शिष्य बनने में अपनी हेठी नहीं समझते थे। अतः सम्भव है कि अनेक विशेषज्ञों को इन्होंने गुरु माना हो। पर मुख्य रूप से तीन को इन्होंने गुरु कहा है—अभिनव गुप्त, गंगक और सोमपाद।

इनके पिता उदार तथा धनी थे। उनके वात्सल्य की छाया में क्षेमेन्द्र ने सुख-सौन्दर्य का जीवन बिताया था। अनेक प्रकार के लोगों से संपर्क प्राप्त किया था। वेश्या, लुहार, चमार, महाजन, शैव, वैष्णव, काश्मीरी, बङ्गाली आदि को बड़े निकट से इन्होंने देखा था। इसलिये जीवन के विषय में इन्हें बड़ा व्यापक, बहुमुखी अनुभव मिला। इनके समय में काश्मीर की सामाजिक दशा पतनोन्मुख थी। वह कवि की प्रतिभा पर इतना शुभ प्रभाव न डाल सकी कि वह प्रशंसक बन जाता। उसे तो समाज में स्थान स्थान पर छिद्र दिखाई दिये। इसलिये वह व्यंग्यों किंवा यथार्थ के वर्णन और नीति के उपदेशों द्वारा उसके उत्थान को लक्ष्य बनाकर काव्य रचना करने लगा। बौद्ध धर्म में सामाजिक आदर्श उत्तम थे। इसलिए ग्यारहवीं शताब्दी में भी क्षेमेन्द्र ने शैव होकर 'बौद्धावदान कल्पलता' में भग-

वान् बुद्ध की प्रशंसा की और 'दशावतार चरित' में सबसे पहले उन्हें भगवान मानकर दश अवतारों में स्थान दिया। यह इनकी धार्मिक उदारता और सामाजिकता का साक्षी है।

जीवन का यथार्थ बहुमुखी अथच व्यापक रूप इनके ज्ञानगोचर हुआ था। उसी को इन्होंने अपनी रचना का विषय बनाया। व्यास, वाल्मीकि, गुणाढ्य के ये बड़े प्रशंसक थे। व्यास को तो अपना गुरु मानकर स्वयं को 'व्यासदास' कहा करते थे। इस श्रद्धा का कारण भी यही है कि ये सभी जीवन के यथार्थ द्रष्टा कवि हैं।

२—रचनाएँ

क्षेमेन्द्र की छोटी बड़ी ३३ रचनाओं का पता लग चुका है। इनमें से १८ प्रकाशित हैं और १५ उनके प्रकाशित ग्रंथों में निर्दिष्ट हुई हैं। इन सब को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

१—पद्यात्मक सूक्ष्म रूपान्तर।
२—उपदेशात्मक।
३—रीति संबंधी।
४—फुटकल।

इनमें से एक एक भाग की प्रत्येक रचना का सूक्ष्म परिचय यह है।

१—पद्यात्मक सूक्ष्म रूपान्तर

इस भाग में ५ रचनाएँ आती हैं। 'रामायण मंजरी', 'भारत मंजरी', 'बृहत्कथा मंजरी', 'दशावतार चरित' तथा 'बौद्धावदान-कल्पलतिका'। इनका परिचय निम्न प्रकार से है :—

(अ) रामायण मंजरी—यह वाल्मीकिकृत रामायण का पद्यों में किया सूक्ष्म रूप है। काव्य कला की दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक नहीं है। पर ग्यारहवीं शताब्दी में रामायण का पाठ कितना और कैसा था—इसका परिचय इस ग्रंथ से भली भाँति मिल जाता है।

(आ) भारत मंजरी—यह महाभारत का सूक्ष्म रूपान्तर है। इसमें भी काव्यत्व के दर्शन अधिक नहीं होते। पर मूल ग्रन्थ के तत्कालीन पाठ का साक्ष्य 'रामायण मंजरी' से भी अधिक इसमें प्राप्त होता है। क्षेमेन्द्र ने इसमें महाभारत की छोटी से छोटी घटनाओं

का भी उल्लेख किया है। अतः रचना मूलग्रन्थ का सत्य प्रतिनिधि है। इसमें शांतिपर्व के ३४२-३५३ सर्गों के प्रतिपाद्य का किसी रूप में भी उल्लेख नहीं हुआ है। फलतः अनुमान होता है कि वह अंश बाद में परिवर्धित हुआ है।

(इ) बृहत्कथा मंजरी—यह गुणाढ्य की प्रसिद्ध 'बृहत्कथा' का सूक्ष्म रूपान्तर है। यह १६ लम्बकों में विभक्त है। रचना करते समय मूलग्रंथ कवि के पास था—यह अनुमित होता है। पर पाँचवें लंबक के बाद उसने ग्रन्थ का अनुसरण छोड़ दिया है। वह स्वेच्छा से विस्तार या संकुचन करता गया है। ग्रन्थ में रोचकता का अभाव है। स्थान-स्थान पर कवि ने सालंकार शैली का आश्रयण किया है पर उससे ग्रन्थ का सौन्दर्य अधिक नहीं बढ़ सका।

(ई) दशावतार चरित—यहाँ विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है। पुराण इसके उपजीव्य हैं। नवीनता इस बात में है कि राम और बुद्ध विष्णु के अवतार रूप में सर्व प्रथम वर्णित हुए हैं। इसमें क्षेमेन्द्र के वैष्णव होने का पता चलता है।

(उ) बौद्धावदान कल्पलता—यहाँ जातक कथाओं का संग्रह है। कवि को इसकी रचना की प्रेरणा सज्जनानंद, तक्क तथा वीरभद्र से प्राप्त हुई थी। इसमें कुल १०८ पल्लव हैं। कवि ने कृति को अधूरा ही छोड़ दिया था। बाद में उनके पुत्र सोमदेव ने एक पल्लव और लिखकर इसे पूरा किया। ग्रंथ का रचना काल सन् १०५२ है। बौद्ध धर्म के प्रति कवि की उदार श्रद्धा का ग्रन्थ साक्षी है।

२—उपदेशात्मक रचनायें

इस भाग में इनकी सात रचनायें आती हैं जिनमें से चार में साक्षात् रूप से उपदेश प्रदान किया गया है। तीन में दोषों पर व्यंग्य है जिसका तात्पर्य उन्हें त्यागकर पवित्र जीवन की ओर संकेत करना है। इनका परिचय निम्न प्रकार से है:—

(क) चारुचर्या शतक—यह सौ अनुष्टुप छन्दों में लिखी छोटी रचना है। इसमें नीति और विनय की शिक्षा दी गई है।

(ख) सेव्यसेवकोपदेश—जैसा कि शीर्षक से प्रतीत होता है रचना

में सेवक तथा स्वामी के सम्बन्धों को स्थायी एवं मधुर बनाने के लिए व्यवहारनीति की शिक्षा दी गई है। इसमें ६१ पद्य हैं।

(ग) **दर्पदलन**—यह अपेक्षाकृत बड़ी रचना है। इसका विषय है अभिमान की निन्दा। इसमें सात विचारक अध्याय हैं। अभिमान के सात कारणों की कल्पना कर प्रत्येक पर एक-एक (अध्याय) लिखा है। ये कारण हैं—आभिजात्य, धन विद्या, सौन्दर्य, वीरता दान तथा तप।

(घ) **चतुर्वर्ग संग्रह**—इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का संतुलित वर्णन किया गया है। काम का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है।

(ङ) **कलाविलास**—क्षेमेन्द्र की यह सर्वश्रेष्ठ रचना समझी जाती है। कथा नायक मूलदेव है जो अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को विविध कलाओं का रहस्य समझाता है। यही ग्रन्थ का ढाँचा है। दंभ तीन प्रकार के हैं। बक-दंभ, कूर्मज दंभ तथा मार्जार दंभ। इनके बड़े रोचक वर्णन हुए हैं। दंभ के अनेक रूप हैं—शुचिदंभ, शास्त्रदंभ, स्नानकदंभ, समाधिदंभ आदि। पर ये सब निरपृहदंभ की तुलना नहीं कर सकते। मुण्डी, जटिली, नग्न, छत्री, दण्डी, कषायधारी, भस्म रमाये जोगी, ये सब दंभ के रूप हैं। इसके पिता लोभ, माता माया, कूट सहोदर, गृहिणी कुटिलता और पुत्र हुंकार हैं। विधाता ने सृष्टि की रचनाकर जब प्राणियों को निरालंब एवं धनादि के संभोग से वंचित देखा तो विभूति के लिए दंभ की सृष्टि की। उसने खड़े-खड़े ही ऐसा तप किया कि ब्रह्मा जी आश्चय में पड़ गये, वशिष्ठ लज्जित हुये, कुत्स कुत्सित, नारद निरादृत, जमदग्नि भग्नवदन, विश्वामित्र त्रस्त आदि। सोच विचार कर ब्रह्मा जी ने उसे अपनी गोद में ही स्थान दिया। वह बड़े संकोच के साथ हाथ से पानी छिड़क कर वहाँ बैठा और ब्रह्मा जी से बोला कि आप जोर से न बोलना, यदि बोलना ही हो तो मुँह के आगे हाथ लगाकर बोलिये जिससे आपके मुँह की सांस का स्पर्श मुझे न हो। इस पर ब्रह्मा जी हँसे और उसे संसार का प्रत्येक स्थल निवासार्थ दे दिया। यह वंचकों का कल्पवृक्ष है। विष्णु ने वामन के दंभ से ही तीनों लोकों का आक्रमण किया था।

लोभ का घर व्यवसाय है। इसके प्रभाव में शुक्राचार्य जैसे ज्ञानी भी आ जाते हैं। कपटाचरण लोभ के ही कारण होता है। निर्लोभ व्यक्ति कभी वंचना नहीं करता। कवि ने काम के वर्णन प्रसंग में इन्द्रियासक्त कामुकों, चरित्रहीन स्त्रियों, वेश्याओं आदि के वंचक चरित्र पर बड़े तीखे व्यंग्य कसे हैं। राजदरबारी कायस्थ भी व्यंग प्रक्षेप के लक्ष्य बने हैं। वे विष्णु के अवतार हैं क्योंकि १६ कलापूर्ण हैं। मद के प्रसंग में शराबियों के खाके भी खूब खिचे हैं। वे मद में अपना मूत्र तक पी जाते हैं, अपनी पत्नी के सतीत्व का भंग आंखों से देखकर भी नहीं लज्जित होते। अश्विनीकुमारों की कृपा से युवा बने च्यवन ऋषि ने उन्हें जब यज्ञभागी बनाना चाहा और इन्द्र ने इसका निषेध किया तो ऋषि ने कृत्यारूप मद राक्षस का सृष्टि की। वही फिर स्त्री, द्यूत, पान और मृगया में प्रविष्ट हो गया।

दंभ की उत्पत्ति और उसके निवास स्थानों का सूची बड़ी रोचक है। गवैये तथा कवि जी भी सुबह के कमाये को शाम तक खर्च कर खाली हाथ सोने वाले जीव हैं, जिनका कभी पेट भरता ही नहीं। 'हा-हा' करने से रात का चोर तो भाग जाता है पर ये दिन के चोर गवैये 'हा-हा' करके ही चुरा लेजाते हैं। नट, नर्तक, कुशीलव, चारण और विट ये ऐश्वर्य की खेती के लिए टिड्डी हैं। इनसे संपत्ति की रक्षा करनी चाहिये। गवैयों की जो संमिलित ध्वनि उठती है वह मानों अस्थान दत्त लक्ष्मी का चीत्कार है। सुनार चौसठ कला पूर्ण होते हैं। ये मेरु पर्वत के चूहे हैं जो पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। अन्त में कवि ने उन साधनों की शिक्षा दी है जिनसे वे बिना पापाचरण के आजीविका कमा सकते हैं। क्षेमेन्द्र का अन्त में उपदेश है कि वंचकमाया जाननी तो चाहिये पर उसका आचरण नहीं करना चाहिये।

(च) **देशोपदेश**—यह आठ उपदेशों में विभक्त वर्णनात्मक रचना है। इसमें काश्मीर देश की दुर्बलताओं का चित्रण है। उन पर व्यंग्य कसना कवि का लक्ष्य है। पर कृति अधिक सफल नहीं कही जा सकती। व्यंग्य कहीं भद्दे हो गये हैं। तीक्ष्णता भी उनमें नहीं है। विषय हैं—कंजूस, वेश्या, कुट्टिनियाँ, विट, काश्मीर में पढ़ने के लिए आया हुआ बंगाली विद्यार्थी, बूढ़ा वर, कवि, शेखीखोर, वैयाकरण आदि आदि। कला विलास इस दिशा का सफल प्रयास है।

(छ) नर्ममाला—देशोपदेश की भाँति यह भी व्यंग्यात्मक रचना है। इसका प्रधान विषय है धूर्त कायस्थ। उसके दंभ, रिश्वतखोरी, चालाकी आदि का साक्षेप वर्णन है। उसके व्यक्तिगत जीवनके कुत्सित रूप का भी विस्तार से चित्रण हुआ है। इस विषय में कवि पक्षपाती सा प्रतीत होता है। बाद में नौसिखिया वैद्य, ज्योतिषी, गुरु आदि के भी साक्षेप वर्णन हैं।

३—रीति ग्रंथ—

रीति ग्रन्थ क्षेमेन्द्र के तीन प्राप्त हैं—'कवि कण्ठाभरण', 'औचित्य विचार चर्चा' और 'सुवृत्ततिलक'। इनमें से पहला कवि शिक्षा पर, दूसरा काव्यालोचन के औचित्य मार्ग की स्थापना पर तथा तीसरा छन्दों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इनमें सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण है औचित्य विचार चर्चा। प्रत्येक का सूक्ष्म परिचय दिया जाता है।

(क) कवि कण्ठाभरण—यह ५५ श्लोककारिकाओं में लिखा पाँच सन्धियों का छोटा ग्रन्थ है। अकवि को कवि बनाने की शिक्षा इसमें दी गई है। पहली सन्धि में तीन प्रकार के शिक्षार्थी—अल्प प्रयत्न साध्य, कष्ट साध्य तथा असाध्य बताये गए हैं। इनमें पहले दो को 'कवि रुचि प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए' यह बताकर असाध्य को अनुपदेश्य कहा है। दूसरी सन्धि में काव्य रचना के कुछ व्यावहारिक अभ्यास बताकर सौ उपायों का निर्देश किया है जो कवि को कवि बनने के लिए करने चाहिएँ। तीसरी सन्धि में कविता में चमत्कार लाने का उपदेश है। चमत्कार को काव्य का आवश्यक तत्व बता कर उसके भेदों का सोदाहरण परिगणन किया गया है। चौथी संधि गुण-दोष-विभाग पर लिखी गई है। काव्य के इस अधिकरण को सरल तथा सूक्ष्म बनाने की क्षेमेन्द्र की पद्धति अत्यन्त प्रशंसनीय है। पाँचवीं सन्धि में कवि के लिए लोक शास्त्र को विविध वस्तुओं का परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता बताकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है। कवि शिक्षा जैसे व्यापक विषय पर इस प्रकार का सरल, सुघटित व्यावहारिक ग्रन्थ लिखना आचार्य की परिष्कृत एवं निर्भ्रांत बुद्धि का परिचायक है।

(ख) औचित्य विचार चर्चा—औचित्य को काव्य का आत्म-

तत्त्व मानकर लिखा गया यह समीक्षा ग्रन्थ है। इसके अनुसार औचित्य रस, अलंकार आदि सभी के मूल में अन्तर्व्याप्त है। ऐसे २७ काव्यस्थान गिनाये हैं जिनमें औचित्य अनौचित्य की परीक्षा की गई है। कुछ और भी काव्यांश शेष रह जाते हैं जिनमें औचित्य की परीक्षा होनी चाहिए पर उन्हें अपरिमेय समझ कर इत्यादि में छोड़ दिया है। एक-एक स्थान का एक-एक कारिका से उल्लेख हुआ है। सर्वत्र औचित्य तथा उसके अभाव के दो-दो उदाहरण दिये गए हैं। उदाहरण देने में क्षेमेन्द्र इतने निर्भ्रांत तथा साहसी हैं कि कालिदास जैसे महाकवियों के पद्य भी अनौचित्य के उदाहरण बनाये हैं; पर उदार इतने हैं कि अपने दोष दरसाने में भी नहीं चूकते।

(ग) सुवृत्ततिलक यह छन्द शास्त्र पर लिखा गया मूल्यवान ग्रन्थ है। तीन विन्यासों में यह विभक्त है। पहले में वृत्तावचय अर्थात् छन्दों का संग्रह है। दूसरे में गुणदोषों का वर्णन तथा तीसरे में छन्द प्रयोग का विवेचन है। अन्त के दोनों अध्यायों में छन्दों के सफल प्रयोक्ता कवियों के नामोल्लेख और रस अवस्था तथा वस्तु के अनुसार छन्दों के चुनाव का बड़ा मार्मिक विचार किया गया है। छन्दोविज्ञान पर इस प्रकार का वैज्ञानिक विचार-प्रयास अन्यत्र नहीं मिलता।

४—फुटकल रचनायें—

तीन छोटी रचनायें इस विभाग में आती हैं। इनमें से एक का कर्तृत्व संदिग्ध है। शेष दो अत्यंत लघु काम हैं। विवरण इस प्रकार है।

(क) लोक प्रकाश कोष—यह क्षेमेन्द्र की संदिग्ध रचना है। वैबर ने इसे क्षेमेन्द्र की कृति नहीं माना। दूसरी ओर ब्हुलर ने सबल भाषा में इसे उन्हीं की रचना सिद्ध किया है। ग्रंथ में व्यापारियों के हुण्डी परचों का परिचय, काश्मीरी अधिकारियों की उपाधियाँ तथा वहाँ के परगने आदि के नाम दिये हैं। काश्मीर देश के भूगोल, शासन तथा व्यापार सम्बन्धी विवरण बड़े ज्ञानवर्धक हैं।

(ख) नीति कल्पतरु—यह व्यास के नीतिपद्यों पर लिखी गई टीका है।

(ग) व्यासाष्टक—यह व्यास की स्तुति में लिखे गये आठ श्लोकों का संग्रह है। रचना 'भारत-मंजरी' का ही अङ्ग प्रतीत होती है।

ऊपर बताये गए ग्रंथों के अतिरिक्त १४ रचनायें ऐसी हैं जिनका नामोल्लेख क्षेमेन्द्र ने स्वयं अपने ग्रंथों में किया है। एक का उल्लेख राजतरंगिणी में हुआ है। इस प्रकार १५ रचनायें निश्चित रूप से क्षेमेन्द्र की अनुमित होती है जो अब तक प्रकाश में नहीं आईं। पं० शिवदत्त जी ने 'हस्तिप्रकाश' ग्रंथ को भी क्षेमेन्द्र कृत माना है। इसी प्रकार व्हुलर ने 'स्पंदनिर्णय' एवं 'स्पंदसंदोह' को इनका कहा है। इन तीनों के विषय में कोई निर्णय-जनक तर्क नहीं मिलता। अप्रकाशित रचनाओं के संकेत निम्न प्रकार से हैं :—

क—कवि कण्ठाभरण में उल्लिखित कृतियाँ—

(१) शशिवंश महाकाव्य, (२) पद्य कादम्बरी, (३) चित्र भारत नाटक, (४) लावण्य मंजरी, (५) कनक जानकी, (६) मुक्तावली तथा (७) अमृत तरंग महाकाव्य।

ख—औचित्य विचार चर्चा में उल्लिखित कृत्तियाँ—

(८) विनयवल्ली, (९) मुनिमत मीमांसा, (१०) नीतिलता, (११) अवसर सार, (१२) ललितरत्नमाला, (१३) और कवि कर्णिका।

ग—सुवृत्त तिलक की उल्लिखित रचना—

(१४) पवन पंचाशिका,

घ—राजतरंगिणी की उल्लिखित रचना—

(१५) नृपावली या राजावली।

इस प्रकार १९ ग्रंथ प्रकाशित तथा १५ अप्रकाशित सब मिलकर ३४ रचनायें क्षेमेन्द्र कृत सिद्ध होती हैं। रचनाओं की संख्या तो उन्हें महान् कृती सिद्ध करती ही है। रचनाओं के वर्ण्य विषय इतने विविध तथा अछूते हैं कि कवि की बहुवित् प्रतिभा पर पाठक को आश्चर्य होता है। क्षेमेन्द्र यथार्थ जीवन के कवि हैं। जिस प्रकार जीवन विविध है उसी प्रकार कवि के वर्ण्य विविध हैं। इन सब के मूल में ऐहिक जीवन का परिष्कार कवि का अभिप्रेत भाव है जो उनकी सदाशयता को प्रमाणित करता है। लोक जीवन के दुर्बल रूप का वर्णन वे वर्णन के लिए नहीं करते, परिष्कार की भावना से करते हैं। इसीलिए जीवन की दुर्बलताओं पर व्यंग्य कसकर स्वच्छता की ओर संकेत करते हुए वे सर्वत्र प्रतीत होते हैं। इन्होंने काव्य

रचना के लिए जिस क्षेत्र को अपनाया है वह आमुष्मिकताप्रधान संस्कृत वाङ्मय के लिये नवीन है। इसीलिये कीथ जैसे विद्वान् इनकी काव्य प्रतिभा में बीसवीं शताब्दी की सी आधुनिकता के दर्शन करते हैं।

३—व्यक्तित्व

आचार्य क्षेमेन्द्र जैसे उच्चकोटि के कवि हैं वैसे ही वे श्रेष्ठ आचार्य हैं। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्तित्व के ये दो पक्ष साथ-साथ मिलकर नहीं चल पाते। कवित्व के उत्कर्ष से आचार्यता शिथिल हो जाती है। कवि निरंकुश होने लगता है। इसी प्रकार आचार्यपन भावुकता को सुखाकर नीरस विवेक की वृद्धि करता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण अनेकों हैं। मतिराम जितने सहज सरल कवि हैं उतने प्रौढ़ आचार्य नहीं। केशव का आचार्यत्व उत्कृष्ट है, कवित्व निकृष्ट। पर क्षेमेन्द्र में ये दोनों गुण पूर्ण प्रौढ़ हैं। संस्कृत साहित्य में इसी प्रकार के दूसरे कवि पंडितराज जगन्नाथ हैं।

क्षेमेन्द्र का कवितत्व अधिक सरस एवं ललित तो नहीं कहा जा सकता, पर व्यापक है। अनेक विषयों पर इन्होंने अपनी लेखनी उठाई है और सफलता प्राप्त की है। संस्कृत साहित्य में इतना विविध लेखी दूसरा कवि नहीं मिलता। काव्य की शैली पुराणों की सी इति वृत्तात्मक है। यत्रतत्र अलंकारों के सफल प्रयोग मिलते हैं।

इनका आचार्यत्व और कवित्व परस्पर सम्बद्ध भी है। कवि के लिए जिन जिन आदर्शों, विषयों आदि का संकेत इन्होंने किया है प्रायः उन्हीं के अनुसार रचनायें की हैं। रीति सम्बन्धी इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हैं—कविकण्ठाभरण और औचित्य विचार चर्चा। पहली में कवि शिक्षा है दूसरे में एक मार्ग की स्थापना का प्रयत्न है। कवि शिक्षा के अन्तर्गत जिन आदर्शों का इन्होंने संकेत किया है, उन सभी का पालन प्रायः अपनी रचनाओं में इन्होंने किया है।

कवि के लिए इन्होंने (१) लोकाचारपरिज्ञान—लोक जीवन का परिचय, (२) उपदेश विशेषोक्ति—स्थान-स्थान पर उपदेश प्रद उक्तियाँ कहना, (३) इतिहासानुसरण—इतिहास को मानना, (४) सर्वसुरस्तुति में साम्यभाव—सब देवताओं की समानभाव से स्तुति करना, (५) विविक्ताख्यायिका रस—उत्कृष्ट कथा साहित्य में रुचि रखना, (६) नाटकाभिनयप्रेक्षा—नाटकों के अभिनय देखने की रुचि, (७) काव्यांगविद्या-

धिगम—रीतिशास्त्र का ज्ञान, (८) प्रारब्ध काव्य निर्वाह—काव्य का प्रारम्भ कर समाप्त कर लेने का स्वभाव आदि गुण बताये हैं। एक-एक गुण के अनुसार कवि की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसका विवरण निम्न प्रकार से है :-

१—लोकाचारपरिज्ञान	१—समय मातृका (वेश्याओं के व्यवहार का वर्णन) २—कला विलास (विविध व्यवसायों का वर्णन)
२—उपदेशविशेषोक्ति	१—दर्पदलन (मिथ्याभिमान की निन्दा) २—सेव्यसेवकोपदेश (स्वामी सेवक के साथ संबंधों का निर्देश) ३—चारुचर्याशतक (श्रेष्ठ दिनचर्या का वर्णन)
३—इतिहासानुसरण	१—भारत मंजरी (महा भारत का सूक्ष्म रूपान्तर) २—रामायण मंजरी (रामायण का सूक्ष्म रूपांतर)
४—सर्वसुरस्तुति में साम्य-भाव	१—दशावतार चरित (दश अवतारों का वर्णन)
५—विविक्ताख्यायिका रस	१—पद्य कादम्बरी (बाणकृत कादम्बरी का पद्यबद्ध अनुवाद)
६—अभिनय प्रियता	१—चित्र भारत नाटक (महाभारत की कथा का नाटक रूप)
७—काव्यांग विद्या का अधिगम	१—कविकण्ठाभरण (कवि शिक्षा का वृहत् ग्रन्थ) २—औचित्यविचार चर्चा (औचित्य मार्ग की स्थापना)
८—प्रारब्ध काव्य निर्वाह	१—किसी भी रचना को कवि ने अपूर्ण नहीं छोड़ा है। सभी पूर्ण हैं।

औचित्य विचार चर्चा के अनुसार काव्य का आत्मतत्व औचित्य है। इसके बिना अलंकार, रस, गुण, आदि अकिंचित्कर हैं। वे तभी काव्य के विधायकतत्व हो सकते हैं जब कि उनके मूल

मार्ग, रीति मार्ग और रसमार्ग। इनमें भी अनुवर्तन केवल पहले और तीसरे दो मार्गों का ही विशेष रहा। रीति के अनुवर्तक उसके प्रवर्तक ही रहे।

ऊपर जिनका निर्देश हुआ है वे पाँचों मार्ग ईसा की १० वीं शताब्दी तक प्रतिष्ठापित हो चुके थे। उनका अनुवर्तन आचार्य तथा कवि करने लगे थे। आचार्य क्षेमेन्द्र का कार्यकाल इसी समय आया। उन्होंने अपने काव्यों में जीवन के यथार्थ रूप की व्याख्या की है। अतः यह स्वाभाविक था कि उनकी अभिरुचि पहले के आदर्शवादी समीक्षा मार्गों से तृप्त न रही। उन्होंने काव्य का मूल्यांकन भी यथार्थ दृष्टि से करने का प्रयास किया। काव्यों में उन्होंने समाज की दुर्बलताओं, अनौचित्यों पर व्यंग्य कसे हैं और पवित्र औचित्यपूर्ण जीवन की ओर निश्चित संकेत किये हैं। इसलिए उनकी विवेकशील मनीषा ने यह मानकर कि काव्य जीवन का ही प्रतिरूप है और जिस प्रकार औचित्य पूर्ण जीवन श्रेष्ठ है उसी प्रकार काव्य भी औचित्यपूर्ण ही श्रेष्ठ है—यह सिद्धान्तित किया कि औचित्य काव्य का स्थिर जीवित है भले ही काव्य रससिद्ध हो। 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' स्पष्ट है कि उन्होंने पुरानी परम्पराओं को दूर रखकर नए सिरे से काव्य का विचार किया था। औचित्य तत्व की काव्य में मान्यता तो पहले आचार्यों ने भी की थी। पर उसे वे काव्य का एक साधारण सांयोगिक तत्व मानते थे, प्रमुख नहीं। क्षेमेन्द्र ने उसे काव्य के क्षेत्र में आत्म पदवी प्रदान की है। इसलिए इसे मागता प्रदान करने तथा काव्य का यथार्थ दृष्टि से आलोचन करने का श्रेय इन्हीं को है। अब हम पुराने आचार्यों के ग्रन्थों में औचित्यतत्व का पता लगाते हुये इस सिद्धान्त की स्पष्ट रूप रेखा व्यक्त करने का प्रयत्न करेंगे।

भरत—आचार्य भरत ने नाटक साहित्य का विचार किया है। उसे लोक वृत्त का अनुकरण बताते हुए लोक को ही अभिनय के लिए सर्व प्रमुख प्रमाण बताया है। लोक के स्वरूप—रूप, वेष, अवस्था, क्रिया आदि को एकरूप तथा अपरिवर्ती नहीं कह सकते। इसलिये जो जिसके सदृश हो, जब जैसा होता हो, वैसा ही अनुकरण करना चाहिये, यह सारांश भरत के नियम का निकलता है। इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने नाटक का निकटतम सम्पर्क लोक से किया है। उसे

परखने के लिए तथा उसके आदर्श के रूप में लोक को ही एक मात्र प्रमाण समझा है। 'जो लोक सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक के स्वभाव से हुआ है अतः नाट्य प्रयोग में लोक ही प्रमाण है, प्रजा का शील एक-सा नहीं होता। नाट्य की प्रतिष्ठा शील में ही है। इसलिये नाट्य का प्रयोग करने वालों को लोक का ही प्रमाण मानना चाहिए।'[१] इसीलिये पात्रों के अनुसार भाषा, वेष आदि का उन्होंने निश्चय किया है। जो जैसा पात्र हो उसी के उचित उसकी भाषा, वेष, चरित्र आदि होने चाहिए। उनकी स्पष्ट उक्ति है कि 'वय के अनुरूप वेष होना चाहिये, वेष के अनुरूप चलना-फिरना; चलने-फिरने के अनुरूप पाठ्य हो तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय हो।'

> वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः,
> वेषानुरूपश्च गति प्रचारः।
> गति प्रचारानुगतं च पाठ्यम्,
> पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्चकार्यः।[२]

वेष के विषय में और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'देश के अनुसार यदि वेष न हो तो वह शोभाजनक नहीं होगा। यदि मेखला गले में पहनी जाय तो उससे हँसी ही होगी।

> अदेशजोहि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति।
> मेखलोरसि बंधेच हास्यायैवोपजायते।

इसी विचार को क्षेमेन्द्र ने और अधिक बढ़ाकर कहा है कि—'कंठ में मेखला, नितंबों पर चंचलहार, हाथों में नूपुर तथा चरणों में केयूर पहनने से, इसी प्रकार प्रबल पर शौर्य तथा शत्रु पर करुणा दिखाने से किसकी हँसी न होगी। अलंकार और गुण बिना औचित्य के रुचिकर नहीं बनते।'

> कण्ठे मेखलया नितंब फलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुर बंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्,
> औचित्येन बिना रुचिं न तनुते नालंकृतिर्नोगुणाः।

इससे स्पष्ट है कि भरत ने नाट्य के प्रसंग में औचित्य का पर्याप्त आदर किया है। नाट्यशास्त्र सबसे पहला समीक्षा ग्रन्थ है।

१—नाट्य शास्त्र अध्याय २६ श्लोक ११३, ११६।
२—वही १४। ६८

वहीं पर औचित्य का इस रूप में समादर सिद्ध करता है कि यह तत्त्व यहाँ के काव्यालोचकों की दृष्टि में पहले से ही रहा है।

दण्डी—आचार्य दण्डी ने अभिधा से तो नहीं पर व्यंजना से यह व्यक्त किया है कि काव्य में औचित्य का स्थान है। उपमा के दोषों के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि यदि धीमान अर्थात् सहृदयों का उद्वेग न हो तो उपमान उपमेय के लिंग और वचनों का भिन्न रूप होना अथवा उनका एक की अपेक्षा दूसरे का हीन किंवा अधिक होना कोई दोष नहीं।

नलिंग वचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालम् यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

इससे यही व्यक्त होता है कि दोष के होने न होने का विनिगमक सहृदयों का उद्वेग है। स्पष्ट है कि वह अनौचित्य से ही होता है। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने गुण शब्द का अर्थ औचित्य किया है। 'अत्रत्यं गुणपदम् औचित्य परम्।' इसके आधार पर पहली कारिका में भी आचार्य का संकेत औचित्य की ओर है—यह कहा जा सकता है। इस प्रकार असाक्षात् पद्धति से दण्डी ने काव्य में औचित्य को स्वीकारा है।

आनंद वर्धन—आनन्द वर्धन ने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता एवं विस्तार के साथ इसका प्रतिपादन किया है। कविता के उन्होंने दो प्रकार के दोष बताये हैं—व्युत्पत्ति (ज्ञान) के न होने से तथा प्रतिभा के न होने से। इनमें पहला साधारण और आहार्य है। वह प्रतिभा के बल पर छिप भी सकता है। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया है कि कालिदास ने शिव पार्वती का जो शृङ्गार वर्णन मानवीय भूमि पर किया है वह परम्परा की अवहेलना करने से अव्युत्पत्ति कृत दोष है। पर उनके वर्णन में इतनी चारुता तथा स्वाभाविकता है कि वह दोष नहीं प्रतीत होता। प्रतिभा के चमत्कार ने दोष को छिपा दिया। फिर प्रश्न उठता है कि किसी शैली के गुणयुक्त या दोषयुक्त होने का निर्णय किस आधार पर किया जाय? उसका विनिगमक क्या हो? इसके उत्तर में आचार्य ने बताया है कि वक्ता और बोद्धव्य का औचित्य इसका नियामक है।[1]

१—ध्वन्यालोक ३।५

इसके अतिरिक्त विषय के अनुसार शैली का नियमन करते हुए एक दूसरे स्थल पर आनंदवर्धन ने स्पष्ट रूप से रसगत औचित्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'विषय सम्बन्धी औचित्य भी शैली का नियंत्रण करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यों में वह भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जिस गद्य में छन्दादि का कोई नियम नहीं होता वहां भी वह औचित्य शैली का नियामक बनता है अथवा यों कहना चाहिये कि श्रेष्ठ रचना में सर्वत्र रसगत औचित्य का समाश्रयण होता है। विषय के कारण औचित्य में कभी कुछ भेद आ जाता है। अन्त में इस प्रसग का सारांश देते हुए आचार्य ने फिर कहा है कि 'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग होने का और कोई कारण नहीं है। औचित्य का अनुसरण करना ही रस योजना का परम रहस्य है।'[1]

इन्होंने छः प्रकार के औचित्यों का वर्णन किया है :—रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य एवं रीत्यौचित्य। इनमें से एक-एक का परिचय इस प्रकार है :—

रसौचित्य—इसके नियामक सिद्धान्त १० हैं, रस को मुख्य प्रतिपाद्य बनाने के लिए—

(१) शब्द और उसके अर्थ का नियोजन औचित्य पूर्ण हो।

(२) सुप्, तिङ्, प्रत्यय, वचन, कारक, काल, लिंग, समास, आदि का प्रयोग उचित हो।

(३) प्रबन्ध काव्य में संधि, संध्यम, घटना आदि का प्रयोग रसानुकूल हो।

(४) विरोधी रस के अंग विभावादि का वर्णन नहीं करना चाहिये।

(५) विरोधी दो या अनेक रसों का एक स्थल में प्रवेश नहीं करना चाहिये।

(६) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तृत वर्णन नहीं करना चाहिये जिससे मुख्यरस दब जाय।

(७) अंगरस और अंगीरस का आपस में सम्बन्ध समान अनुपात से हो। अङ्ग कम तथा अंगी अधिक।

---

१. ध्वन्यालोक ३। ७-९

(८) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता होनी चाहिये।

(९) प्रबन्ध काव्य या नाटक में रसका प्रयोग उचित अवसर पर होना चाहिये।

(१०) विभाव अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा होनी आवश्यक है।

अलंकारौचित्य—इसके पाँच भेद हैं।

(१) अलंकार का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो तथा प्रतिभा का पुट वहाँ रहे।

(२) अलंकार लाने के लिये जानकर प्रयत्न न करना चाहिए।

(३) अलंकार भावों की पुष्टि में प्रयुक्त होने चाहिये।

(४) वे काव्य में गौण रहें मुख्य नहीं। ऐसा न हो कि पाठक का ध्यान मुख्य विषय से हटकर अलंकार के चमत्कार पर ही बना रहे।

(५) यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरा चमत्कार दिखाने के लिये बाह्य एवं स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त न होने चाहिये। वे काव्य के बन्ध में संश्लिष्ट और समन्वित हों।

गुणौचित्य—गुणों का सम्बन्ध रसों से हैं, इनकी अभिव्यक्ति विशिष्ट प्रकार के वर्णों द्वारा होती है जैसे कोमल तथा मधुर वर्णों द्वारा माधुर्य की तथा कठोर वर्णों द्वारा ओज की। इसलिए गुणों को प्रकट करने के लिए ऐसे वर्णों का प्रयोग होना चाहिये जो स्वयं उनके और रस के अनुकूल हों।

संघटनौचित्य—संघटना का आधार गुण हैं और उपास्य रस, यह पदों की उचित रचना है। इसके औचित्य के चार सिद्धांत नियामक है —

(१) संघटना रसानुकूल हो।

(२) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार इसकी योजना हो।

(३) इसके प्रयोग में प्रतिपाद्य विषय का ध्यान रखना चाहिये।

(४) काव्य की प्रकृति का विचार कर संघटना का प्रयोग होना चाहिए। नाटक में लम्बे-लम्बे समासों का व्यवहार उचित नहीं।

प्रबन्धौचित्य—आनंदवर्धन का यह प्रसंग बड़ा मार्मिक है। इस औचित्य के नियामक तत्व इस प्रकार हैं।

(१) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात रहना चाहिये।

(२) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिये।

(३) जो घटनायें काव्य के मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध होती हों, उन्हें परिवर्तित कर देना चाहिये।

(४) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगी रस की दृष्टि में रखकर करना चाहिये। ऐसा न हो कि उसके अतिविस्तार से प्रमुख भाव दब जाय।

(५) वर्णन विषय से दूर न हटने चाहिये।

(६) अंग घटना का इतना विस्तार न किया जाय कि वह अंगी बन जाय।

(७) प्रबन्ध काव्य की घटनाओं का निर्वाचन होना चाहिये। प्रकृत रस के अनुकूल घटनाओं का ही वहाँ वर्णन न हो।

(८) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिये।

रीत्यौचित्य—रीति का प्रयोग करते समय वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप का ध्यान सदा रखना चाहिए। इनके अनुकूल वह हो प्रतिकूल।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आनंद वर्धन ने औचित्य का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता तथा विस्तार के साथ किया है। क्षेमेन्द्र को इन्हीं से प्रेरणा मिली थी।

इसके अनन्तर वक्रोक्ति मार्ग के प्रवर्तयिता कुंतक ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में किया है। उन्होंने औचित्य का लक्षण तथा महत्त्व दिखाते हुए कहा है कि—'जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता किंवा श्रोता के शोभातिशायी स्वभाव के कारण वाच्यवस्तु आच्छादित हो जाती हो वह औचित्य है।[1] यहाँ ग्रन्थकार का यही आशय है यदि किसी वर्ण्य वस्तु का

---

१. वक्रोक्ति जीवित १, ३८; ३८।

स्वभाव यथार्थ रूप में वर्णित किया गया है तो वह औचित्य है। इसके विपरीत कहीं यदि वक्ता या श्रोता का स्वभाव अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और उसकी अपेक्षा में वस्तु का स्वभाव हीन होता है तो वहाँ वस्तु का वर्णन श्रोता या वक्ता के स्वभाव की छाया में करना ही उचित है। स्पष्ट रूप से यहाँ कुंतक की दृष्टि वर्ण्य, वर्णयिता और श्रोता पर है। उनके वर्णन में परिस्थिति पर ध्यान देने का निर्देश आचार्य ने किया है। इसमें औचित्य की मान्यता स्पष्ट है।

यद्यपि कुंतक आनन्दवर्धन से अर्वाचीन हैं और संभावना होती है कि उनके ग्रन्थ में औचित्य का विवेचन अधिक विशद तथा विस्तृत होगा, पर ऐसा नहीं मिलता। कुतंक के अनुसार वह शैली के अनेक गुणों में से एक है, वह भी बहुत व्यापक नहीं है। इस विषय में वे आनन्दवर्धन से प्रभावित प्रतीत होते हैं। आनन्दवर्धन इसे संघटना का नियामक ही मानते हैं। यह बताया जा चुका है। पर उन्होंने बड़े विस्तृत तथा गंभीर ढंग से इसकी व्याख्या की है। कुंतक की दृष्टि वक्रता पर इतनी केन्द्रित है कि वे काव्य के दूसरे तत्त्व का महत्त्व नहीं आंक सकते।

इसके अनन्तर महिम भट्ट आते हैं जिन्होंने अपने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में ध्वनि मार्ग की खण्डनात्मक आलोचना की है। उन्होंने औचित्य के शब्दौचित्य एवं अर्थौचित्य दो भेद बताते हुए दूसरे को यह कहकर छोड़ दिया है कि इसका वर्णन आनंदवर्धन कर चुके हैं। शब्दौचित्य को फिर उन्होंने पाँच भेदों में विभक्त किया है—विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पुनरुक्ति और अधिक पदता। ये पाँचों दोष हैं। वास्तव में इन्होंने औचित्य का प्रसंग छोड़कर अनौचित्य का वर्णन किया है। विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्। फिर भी प्रकृत में यह कहा जा सकता है कि महिमभट्ट जैसे तार्किक भी औचित्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं कर सके। दोषों के द्वारा ही सही, उसका वर्णन उन्होंने किया है, यहाँ विशेष विचारणीय यह है कि महिमभट्ट ने औचित्य को दोषाभाव समझा है। गुणों का भी समीक्षा की परंपरा में कुछ ऐसा ही इतिहास रहा है। रीतिमार्गी लोगों ने इनका पृथक महत्त्व समझा था पर आगे आनेवाले दूसरे लोगों ने उन्हें दोषाभाव में अन्तःपातित कर दिया। महिमभट्ट से लेकर औचित्य का भी वैसा ही भाग्य बन गया। वह दोषाभाव बनने लगा है। क्षेमेन्द्र ने इसका स्पष्ट

खंडन किया है, यह दोषाभाव नहीं है। स्वतंत्र विध्यात्मक तत्त्व है। महिम भट्ट का विचार विमर्श इस सम्बन्ध में अधिक गम्भीर नहीं है।

इसके अनन्तर औचित्य की विवेचना और मूल्यांकन क्षेमेन्द्र द्वारा ही हुआ है। उन्होंने इसे समस्त काव्य जात को परखने का आधार मानकर इसपर एक समीक्षा मार्ग की स्थापना की है। स्वतन्त्र पुस्तक इसपर लिखी है। पुस्तक में यद्यपि पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है फिर भी वे इसे थोड़ा समझते थे। इसीलिये उन्होंने अपनी पुस्तक को 'चर्चा' कहा है।

यह पुस्तक उन्होंने बुभुत्सु कवियों की शिक्षा के लिये लिखी है। इसमें विद्वानों का सा वाग्विलास या पांडित्य प्रदर्शन की इच्छा जैसा कुछ नहीं है। पुस्तक का संगठन उपयोग की दृष्टि से हुआ है। फलतः इसका व्यावहारिक मूल्य बड़ा है।

मुख्य विषय पर आने से पहले क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य रसका जीवित है। यदि वह काव्य में न हो तो वहाँ अलंकारों का प्रतिपादन करने तथा गुणादि की मिथ्या योजना करने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसी रचना काव्य का पद नहीं ले सकती। अलंकार, अलंकार ही हैं। इसी प्रकार गुण भी गुण ही है। इनका महत्त्व इतना नहीं कि जिसके आधार पर रचना को काव्य कहा जा सके। काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है।

इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य गुण और अलंकारों से भिन्न तत्त्व है इसका काव्य में वही स्थान है जो शरीर में जीवित का। जिन लोगों ने यह पदवी (आत्मा) रसको प्रदान की थी उन्हें भी क्षेमेन्द्र ने उत्तर दिया है कि काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है रस यदि काव्य में प्राणपद पायेगा भी तो अस्थिर रूप से। काव्य औचित्य रहित होकर यदि गुण या अलंकारों से युक्त होगा तो वह निर्जीव ही होगा।

अलंकार का कार्य है काव्य में शोभा बढ़ाना। यह तभी हो सकता है जब उसका विकास औचित्य पूर्ण हो। इसी प्रकार गुण भी औचित्य के साथ ही कृतकार्य हो सकते हैं इसके बिना अलंकारों को अलंकार तथा गुणों को गुण नहीं कह सकते। औचित्य का काव्य में यह स्थान है। इसके मानने की उपयुक्त आवश्यकता है।

लक्षण—इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है। 'कोई वस्तु यदि दूसरी वस्तु के अनुरूप सदृश होती है तो आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं। उचित के भाव तत्त्व को ही औचित्य कहा जाता है।

'उचितं प्राहुराचार्या सदृशं किलमस्ययन्।
उचितस्यहि योभावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

इसमें आचार्य का तात्पर्य यह है कि काव्य का सर्वातिशायी गुण सौन्दर्य होता है। वह कोई अनपेक्ष असंपृक्त पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं है। किसी वस्तु को उसी में सीमित रखकर सुन्दर या असुन्दर नहीं कहा जा सकता। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यंत ने शकुन्तला का चित्र स्मृति के आधार पर बनाकर उसके आसपास का वातावरण इसीलिये चित्रित करना आवश्यक समझा था कि उसके बिना सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। इसलिये चित्र में शकुन्तला के अतिरिक्त मालिनी नदी; उसके सैकत में प्रेममग्न हंसों के जोड़े, हिमालय की शाखाओं पर बैठे मृग, मृगियां वृक्ष की शाखा में लटकते हुए वल्कल वस्त्र तथा उसके नीचे काले मृग के सींग से अपना बाँया नेत्र खुजाती हुई मृगी को चित्रित किया। अपने वातावरण के साथ अब सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई। उसके शिवत्व अथवा अशिवत्व की स्थापना भी दूसरी वस्तुओं के सहसंगठन से होती है। जो वस्तु दूसरों के लिये श्रेयस्कर है वह शिव है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि कोई अपने सहयोगी पदार्थों में समंजस रूप से विन्यस्त है तो वह सुन्दर है और आनन्दक भी है अन्यथा नहीं। सुवर्ण के साथ काँचका संयोग जितना सुन्दर होता है उतना चाँदी का नहीं। रंगों के परस्पर संयोजन से यह बात और अधिक स्पष्टता से अनुभव की जाती है। काव्य में भी संयोजन क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में अनेकत्र अनेकदा दृष्ट एवं अनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे समंजस संयोजन किया जाता है। इस सामंजस्य को सादृश्य अथवा संतुलन को ही औचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गौ के लिये असदृश और ऊँट के लिये सदृश है। अधिक भूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिये उचित एवं नागरिक के लिये अनुचित है। 'भट बायरे ठाकुर एकन को अस एकन को पथु दीजतु है।' इस प्रकार औचित्य एक विध्यात्मक तत्त्व सिद्ध होता है। यही समस्त

सौन्दर्य का मूल है। अतः यह मानना पड़ता है कि काव्य में प्रयुज्यमान पदार्थों का परस्पर में सादृश्य अनुरूपता हो, यह अत्यन्त अपेक्षित है। लक्षण में क्षेमेन्द्र ने 'आचार्य' शब्द से दूसरे लोगों का भी उल्लेख किया है। इससे अनुमित होता है कि इनसे पूर्व तथा समकाल में समीक्षा की इस दृष्टि की पर्याप्त मान्यता थी। प्रतिपादन में क्षेमेन्द्र की दृष्टि औचित्य तत्त्व की व्यापकता दिखाने पर विशेष रही है। प्रतिज्ञा में इसे गुण अलंकार एवं रस में विद्यमान बताकर इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए काव्य के २८ अङ्ग गिनाकर उनमें प्रत्येक में औचित्य की सत्ता सिद्ध की है। अंत में काव्य के अन्य अंगों में जिनका वे नाम निर्देश नहीं करते, इसे व्याप्त बताते हैं। परिगणित २८ स्थान ये हैं;—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबधार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद, तथा (२८) काव्य के अन्य अनेक अंग। इन सब में अन्वयव्यतिरेक शैली से उदाहरण प्रत्युदाहरणों द्वारा प्रतिपाद्य विपय को सिद्ध किया है। अन्तिम २८वें तत्त्व काव्यांग का निर्देश मात्र करके छोड़ दिया, वे अनंत हैं। कितनों का विश्लेषण विस्तार करते ?

उपर्युक्त २८ काव्य तत्त्वों का श्रेणी विभाजन कर यदि यह परीक्षा की जाय कि काव्यकला का कितना समाव इनके आभोग में होता है तो हम विवेचन को सर्वांगपूर्ण पाते हैं। आचार्य ने काव्य के प्रत्येक अस्त्र में औचित्य की व्यापकता बड़े वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध की है। ये चार विभागों में विभक्त है—शब्द, काव्यशास्त्रीय तत्त्व, चरित्र तथा परिस्थिति प्रत्येक में इस प्रकार श्रेणी बन्धन है :—

शब्द—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात। =९

काव्यशास्त्र के तत्त्व—प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सारसंग्रह, तत्त्व, आशीर्वाद तथा काव्य के अन्य अनेक अङ्ग। =८

चरित्र—व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम। =७

परिस्थिति—काल, देश, कुल, अवस्था। =४

=२८

इन्हें इस प्रकार देखें. काव्य को स्थूल रूप से अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें से अभिव्यक्ति के अन्तगत शब्द और अर्थ आते हैं। अर्थ को भी पृथक् न मानें तो कोई हानि नहीं। उसका विवेचन शब्द के ही अन्तर्गत हो जाता है समूची अभिव्यक्ति शब्द में समाती है। काव्य की अभिव्यक्ति को साधारण अभिव्यक्ति से विलक्षण, चमत्कारक, रसवती बनाने के लिए काव्य मर्मज्ञों ने काव्य के कतिपय अंगों की कल्पना की है। काव्य-शास्त्र उन्हीं के सहारे काव्य की मीमांसा करता है। यह काव्यगत अभिव्यक्ति की साजसज्जा का, आयोजन-नियोजन का साधन है। क्षेमेन्द्र के पहले दो विभागों में अभिव्यक्ति पक्ष का १७ भागों में विश्लेषण कर औचित्य को उनमें व्याप्ति परखने का प्रयास है। हमें ध्यान करना चाहिये कि अनेक लब्ध प्रतिष्ठ काव्य मीमांसकों ने इनमें से एक-एक शब्द, अलंकार, रस आदि को लेकर ही काव्य की मीमांसा की है। उनकी तुलना में क्षेमेन्द्र की विचार-पद्धति कितनी विस्तृत लगती है? अभिव्यंग्य में हम व्यक्ति और इसकी परिस्थिति को ले सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने चरित्र विभाग से व्यक्ति और परिस्थिति विभाग से उसके सांयोगिक वातावरण का ११ विभागों में विभाजन कर सर्वत्र औचित्य को दिखाया है। इसका अर्थ यही होता है कि आचार्य ने अपने प्रतिपादन में व्यापक तथा वैज्ञानिक शैली को अपनाया है।

रस तथा कारक का अपेक्षा कृत अधिक विस्तार से विचार किया गया है; उसमें भी रस का सबसे अधिक। इसका कारण आनन्द वर्धन तथा अभिनव गुप्त का प्रभाव प्रतीत होता है। कारक तो सात प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक पर विचार करने के विस्तार हो जाना स्वाभाविक है। रसगत औचित्य का लाभ दिखाते हुए क्षेमेन्द्र ने बताया है कि इससे रसकी रुचिरता एवं व्याप्ति बढ़ जाती है। औचित्य संकलित रस भावुक हृदय के समस्त देश में फैल जाता है अन्यथा अनौचित्य अखरता रहता है और ऐसा लगता है मानों हृदय का कुछ भाग तृप्त और कुछ अतृप्त रह गया हो। रस गत औचित्य के रूप अनेक हैं। योग्य विभाव अनुभाव की योजना, संयुज्यमान भावों का उचित निर्वचन, पात्र के अनुसार भाव की व्याख्या, आश्रय और आलंबन

की प्रकृति का विचार आदि। भाव वर्णन में परिस्थिति का ध्यान तथा अनेक भावों के परस्पर संमिश्रण में सादृश्य का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। भावों के संमिश्रण में व्यास जैसे सहज कवि भी अनौचित्य दोष के भागी दीख पड़ते हैं। जिस प्रकार भोजन रसों में सब रसों का संमिश्रण सब प्रकार से नहीं होता। उसमें कुशलता से अनुरूपता का संरक्षण करना पड़ता है। इसी प्रकार काव्य रसों के परस्पर श्लेष में औचित्य की रक्षा करनी चाहिये। अनौचित्य का थोड़ा स्पर्श होने से भी वैरस्य उत्पन्न हो जाता है।

इनकी उदाहरण देने की क्षमता भी विशेष प्रशंसनीय है। अपनी प्रत्येक बात के लिये वे उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दोनों देते हैं और मन्तव्य की व्याख्या करते हैं। इस विषय में वे बड़े निःसंकोच तथा उदार प्रतीत होते हैं। जिनके पद्य उदाहृत हैं उनके नाम दिये हैं। अपने तो ग्रंथों तक का नाम उल्लिखित किया है। निःसंकोच इतने हैं कि कालिदास, व्यास, राजशेखर जैसे ख्यातनामा कवियों के भी दोष दिखाये हैं। उदार इतने हैं कि अपना दोष दिखाने में भी हिचके नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी विशेषता इनके निर्भ्रांत निर्णयों की है। जो बात वे कहना चाहते हैं उसे दो टूक कहते हैं। विचारणा व्यावहारिक दृष्टि से की गई है। पाण्डित्य का प्रदर्शन अथवा शास्त्रों का प्रमाण देकर बात सिद्ध करने का प्रयास कहीं नहीं किया गया। वे अपने विचारों की सत्यता में भावुकों के अनुभवों का ही साक्ष्य ठीक समझते हैं।

अर्वाचीनों पर प्रभाव—क्षेमेन्द्र के अनन्तर आने वाले आचार्यों पर रससिद्धांत का प्रभाव बड़ा प्रबल था। इसलिये रस के अतिरिक्त अन्य किसी काव्यतत्त्व को उन्होंने आत्मस्थानीय महत्त्व नहीं दिया। फलतः औचित्य मार्ग जो क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुआ था, आगे चलकर फीका पड़ता गया। उसकी व्याप्ति गुण दोषों तक ही सीमित हो गई। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण कभी दोष और दोष कभी गुण बन जाते हैं। यह उसके गुण दोषों की परीक्षा का विनिगमक बनने का प्रमाण है। रसादि से जो उसका सम्बन्ध था वह हट गया।

भोज ने अपने विस्तृत ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इसका प्रासंगिक रूप से विवेचन किया है। अर्थ दोषों के अन्तर्गत औचित्य-विरुद्ध नाम का एक दोष इन्होंने माना है। इसी का औचित्य के कारण गुण रूप भी उन्होंने दिखाया है। एक और स्थान पर अलंकार विवेचन के अन्तर्गत औचित्य को भाषा तथा शैली का गुण स्वीकार किया है। वहाँ इसके निम्न लिखित छः भेद दिखाये हैं।

१—विषयौचित्य—जिसके कारण अलंकार यथार्थतः अलंकार बन सकता है।
२—वाच्यौचित्य—अवसर के अनुकूल संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का व्यवहार करना।
३—देशौचित्य—देशानुसार भाषा का व्यवहार।
४—समयौचित्य—समयानुसार भाषा का व्यवहार।
५—वक्तृविषयौचित्य—वक्ता की दशा के अनुसार भाषा का प्रयोग।
६—अर्थौचित्य—विषय के अनुसार गद्य अथवा पद्य का प्रयोग।

विवरण से स्पष्ट है कि भोज औचित्य को काव्य के कतिपय अंशों का गौण अङ्ग समझते हैं। इसका काव्यात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

हेमचन्द्र ने इसी प्रकार प्रसंगवश काव्यानुशासन में औचित्य का उल्लेख किया है। उन्होंने छायोपजीवन को अर्थात् दूसरे कवियों के पद, वाक्य, वाक्यांशों के अनुकरण को काव्यानुशीलन का एक उपाय बताया है। इसमें औचित्य रक्षण पर ध्यान दिलाते हुए व्यक्त किया है कि ऐसा न करने से कवि काव्यचौर्य का दोषी बन जाता है। दोषों के प्रकरण विसन्धि अर्थात् संधि न करने को औचित्य वश गुण या दोषाभाव माना है। गुणों के प्रसंग में भी उन्होंने प्रतिपादित किया है कि यद्यपि गुणों में भाषा नियत होती है फिर भी वक्ता, वाच्य या प्रबन्ध के औचित्य से इसमें परिवर्तन हो जाता है। अन्त में यह भी साधारणतया कहा है कि दूसरे स्थानों में भी औचित्य का अनुसरण करना चाहिये।

इस विवरण से प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने औचित्य का विमर्श तो पर्याप्त किया है पर दिया उसे गौणपद ही है। इनके अनुसार इसका सम्बन्ध वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध तीन तत्त्वों से है।

विश्वनाथ ने इसे गुण दोषों तक ही सीमित कर दिया है। गुण दोषों का निर्णय इसी के आधार पर होता है। सब के बाद अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ आते हैं। उन्होंने शब्द सामर्थ्य के प्रसंग में औचिती को काव्य का गुण माना है।

इस प्रकार सस्कृत के समीक्षा शास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि औचित्य का काव्य में थोड़ा बहुत मूल्यांकन सभी के द्वारा हुआ है। दण्डी ने अप्रत्यक्षतः इसका निर्देश किया है। आनंद वर्धन ने इसके व्यापक महत्त्व को ठीक समझकर उसे उचित विस्तार प्रदान किया। कुंतक ने इसके महत्त्व को तो पहचाना पर काव्य में उसे गौणतत्त्व ही माना। महिमभट्ट ने इससे भी कम महत्त्व दिया। क्षेमेन्द्र ने उसे समस्त काव्य में व्याप्त समझकर उसके आधार पर एक स्वतंत्र मार्ग की स्थापना की। पर उनका कोई अनुयायी न हो सका। बाद में तो सभी विद्वान् रस सिद्धान्त के एक मात्र स्वीकर्ता बन गए। मम्मट, भोज, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ सब इसी श्रेणी के आचार्य हैं। इन लोगों ने औचित्य की सीमा केवल गुण दोषों तक ही स्वीकार की।

ऊपर के इतिहास से पाठक के मन में फिर एक संदेह उत्पन्न हाता है। वह यह कि औचित्य को काव्य के अन्य गुणों के समान एक गुण मात्र मानना ठीक है जैसा बहुत से आचार्यों ने किया है या फिर काव्यात्मा मानकर कविता में इसका अनिवार्य महत्व स्वीकार करना उचित है जैसा कि क्षेमेन्द्र और आनन्द वर्धन ने किया है। समस्या पर फिर से विचार करना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने स्वयं इसका उत्तर दिया है। राजशेखर के काव्य पुरुष का रूपक लेकर वे कहते हैं कि कविता में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों का वही स्थान है जो मानव शरीर में सत्यवादिता, उदारता आदि गुणों का है। वे शरीर के विधायक तत्त्व नहीं हैं विशिष्टता उत्पन्न करने वाले समवेत गुण हैं। अलंकार भी इसी प्रकार सांयोगिक पदार्थ है। उसके न होने से शरीर का विद्यमान महत्व घट नहीं सकता। सूना शरीर शरीर ही कहलायेगा कुछ और नहीं। हाँ, बिना अलंकार के उसकी शोभा न बढ़ पायेगी। गुणों का अभाव काव्य में कुछ हेयता ला देता है पर वह भी उसकी काव्य संज्ञा नहीं मिटा सकता। उदारता आदि के बिना भी पुरुष को पुरुष ही कहा जायगा।

इस शैली से रस का भी विचार करना चाहिये। रस काव्य की आत्मा माना गया है। पर क्षेमेन्द्र इस स्थापना से सहमत नहीं। उनके अनुसार रसका काव्य में वही स्थान है जो अन्य रसों का मानव शरीर में है। यों कहना चाहिये कि जीवित रहने के लिये शरीर और आत्मा दोनों की आवश्यकता पड़ती है। शरीर की रचना पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों तथा सात रसों द्वारा होती है। ये शरीर के विधायक तत्त्व हैं पर आत्मा इनसे भिन्न वस्तु है। यह भी शरीर धारण के लिये अनिवार्य है, रसों का सम्बन्ध शरीर से है इसके लिये उस का महत्त्व सर्वोपरि है। पर आत्मा शरीर को जीवन प्रदान करता है। काव्य में रस रसस्थानीय है और औचित्य आत्मस्थानीय। रसके रहते हुए भी यदि औचित्य नहीं तो काव्य निर्जीव है। रसाभास, रस, दोष आदि की यही स्थिति होती है। वे रस गत औचित्याभाव के नामान्तर हैं।

इसी प्रकार अनौचित्य तथा दोषों का अन्तर समझ लेना चाहिये। यह काव्य के काव्यत्व का लोप कर देना है, उसके जीवन को हर लेता है। दोष केवल सौन्दर्य पर आघात करते हैं। कहीं उसे सर्वथा लुप्त कर देते हैं तो कहीं घटा देते हैं। पर मनुष्य असुन्दर रह कर भी है तो जीवित ही।

औचित्य के आधार पर काव्य मीमांसा का मार्ग दिखाकर क्षेमेन्द्र ने एक और बड़ी विशेषता की है। काव्य कला को जीवन के निकट ला दिया है। रस, अलंकार आदि के सिद्धांत आदर्शवाद के सिद्धांत हैं। साधारण जीवन के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम है। इसीलिये इन्हें माननेवाले कवियों की रचनाओं में अतिवादिता दिखाई पड़ती है। जीवन का यथार्थरूप उनसे बिल्कुल छुट गया है। माघ, भट्ट नारायण, श्रीहर्ष आदि इसके प्रमाण हैं। इनके काव्यों में जीवन बहुत कम हैं, कला का प्रदर्शन ही सर्वप्रमुख है।

औचित्य जीवन प्रसूत गुण है। इसकी धारणा जीवन से प्राप्त होती है। यहाँ उचित और अनुचित का सतत संघर्ष चलता है। उचित ठहरता है और अनुचित तब तक लड़खड़ाता रहता है जब तक या तो वह उचित नहीं बन जाता या फिर नष्ट नहीं हो जाता है। इस देवासुर संग्राम में अन्तिम विजय देवों की ही होती है। अनौचित्य शरीर में विदेशी तत्त्व के समान थोड़ा भी जीवन को विशृङ्ख-

लित, विचलित एवं अस्वस्थ बना देता है। इस के विपरीत जो उचित है वह सुन्दर मंगल और प्रिय लगता है। यह वह धुरी है जिस पर जीवन-चक्र घूमता है। नियम, अपवाद, विधान, स्मृति, सदाचार, धर्म, नीति आध्यात्मिकता, दर्शन आदि सब इसी के घटे बढ़े उपनाम हैं। इसको काव्य का मूल तत्त्व मान लेने का अर्थ होता है काव्य और कला को जीवनमय बनाने का प्रयास। इसके सहारे कला आदर्शवाद तथा आत्म प्रधानता (Subjectivity) के स्वर्ग से उतर कर यथार्थवाद तथा विषयप्रधानता (Objectivity) की भूमि पर विचरण करने लगती है। वह व्यावहारिक बन जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्षेमेन्द्र के काव्य हैं जिनमें जीवन के यथार्थ रूप की विवृत व्याख्या है; जीवन को सुघड़ बनाने का विध्यात्मक सुन्दर प्रयास है।

औचित्यवादी के लिये समीक्षा के बहुत से झमेले समाप्त हो जाते हैं। उसका मार्ग सीधा हो जाता है। जो उचित है वह काव्य है। औचित्य की मात्रा पर ही काव्य का अधम, मध्यम, श्रेष्ठ होना निर्भर रहता है। और औचित्य का आधार ? इसका आधार जीवन है जो सबको अनुभूत और प्रत्यक्ष है। फिर गुण, दोषों के विभाग उप-विभाग कर लम्बी संख्या बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। औचित्य के क्रोड में ही ये सब समा जाते हैं। कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र ने जो गुण दोषों के अधिक भेद नहीं दिखाये, इसका कारण यही है। एक और तरह से विचार कीजिये —

काव्य का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है—रूप की दृष्टि से और भाव की दृष्टि से। भारतीय साहित्य के आलोचकों ने यही किया है। रीति, गुण, अलंकार आदि को महत्त्व प्रदान कर काव्य की आलोचना करनेवाले विद्वान् उसके रूप का विवेचन करते हैं। और जिन लोगों ने रस, ध्वनि आदि को प्रमुखता देकर कविता की परख की है वे भाव पक्ष के द्रष्टा हैं।

भाव और रूप या अर्थ और भाषा में कौनसा व्याप्य है और कौनसा व्यापक, इसका विचार किया जाय तो पता चलता है कि साधारण लोक व्यवहार और काव्य जगत् में इस दृष्टि से परस्पर विरोध रहता है। साधारण व्यवहार में रूप या भाषा व्यापक बनकर आती है। वह अपने में अर्थ को समाये रहती है। अर्थ की सीमा

भाषा की सीमा के अन्दर रहती है उससे परे नहीं। काव्य का क्षेत्र इसके विपरीत होता है। वहाँ भाव जगत अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और व्यापक रहता है। रूप या भाषा उसकी अपेक्षा में व्याप्य या लघुतर होती है। इसीलिये यहाँ लक्षणा तथा व्यंजना का आश्रयण किया जाता है। इन वृत्तियों द्वारा भाषा अपना सीमा-विस्तार बढ़ाती है और भाव सीमा को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। साधारण व्यवहार में इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़तो। वहाँ केवल अभिधा से ही कार्य चल जाता है। अस्तु कहने का सार यही है कि काव्य में रूप व्याप्य होकर तथा भाव व्यापक होकर प्रयुक्त होता है। भावुक या विचारक जो यह अनुभव प्रायः किया करते हैं कि जितना उनके मन में है वह सब भाषा में नहीं आ पाया, इसका भी यही अर्थ है। इस प्रकार काव्य में दो परिधियाँ बन जाती हैं—रूप-परिधि और भाव-परिधि।

रूप का विवेचन हमारे यहाँ अलंकार गुण या रीति के द्वारा हुआ है। इनमें से कोई भी एक इतना पूर्ण नहीं कहा जा सकता कि वह समूचे रूप की व्याख्या करले। इसी प्रकार रस, ध्वनि आदि भी समूचे भाव की व्याख्या नहीं कर पाते। यह गुण तो किसी में भी नहीं है कि अपने क्षेत्र से बाहर की वस्तु को भी ग्रहण करे, अर्थात् रस आदि रूप की व्याख्या करे या अलंकार आदि भाव का आकलन करें। समीक्षा ग्रन्थों में जो रसवाद के अन्तर्गत भाषा आदि का और अलंकार आदि के अंतर्गत भाव आदि का विवेचन किया गया है वह अपने-अपने सम्प्रदाय को पूर्णता प्रदान करने के लिये सांयोगिक सम्पत्ति का किसी न किसी सम्बन्ध द्वारा समाहरण मात्र है।

फिर प्रश्न उठता है कि कोई ऐसा भी तत्व आलोचकों की दृष्टि में आया है जो भाव और भाषा, रूप और रस दोनों पर समान प्रभाव रखता है? वह इतना व्यापक हो कि दोनों क्षेत्रों के गुण उसमें समा जायँ, ? वह तत्त्व औचित्य है। इसके द्वारा अलंकार, गुण, रीति की भाँति रस, ध्वनि आदि सब की याख्या हो जाती है, इसीलिये कहा गया है कि 'ध्वनि, रस और अनुमिति औचित्य का अनसरण करते हैं और गुण, अलंकार तथा रीति के मार्ग बक्रोक्तिमय होते हैं।

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नया श्चानजुवाङ्मयाः।

श्लोक का तात्पर्य यही है कि ध्वनि, रस और अनुमान इन तीनों की व्याख्या एक औचित्य से और गुण और अलंकार तथा रीति की व्याख्या एक वक्रोक्ति से हो जाती है। वक्रोक्ति रूप संपत्ति होने के कारण औचित्य में अन्तर्भुक्त होती है। इस प्रकार सब से अधिक व्यापक तत्त्व काव्य के क्षेत्र में यदि कोई कहा जा सकता है तो वह औचित्य ही है। डाक्टर राघवन ने इसे निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा समझाया है। इससे औचित्य का काव्य में कितना महत्त्व है—यह स्पष्ट होता है।

(आ)—पाश्चात्य आलोचना में औचित्य विचार

आजकल समीक्षा की शैली यूरोपीय ढंग की विशेष है। उसमें द्रष्टव्यता की एक कसौटी स्थिर कर कवि या कलाकार की कृति के सर्वांगीणरूपकी समीक्षा की जाती है। भारतवर्ष की समीक्षा शैली प्रायः खण्ड-ग्राहिणी है। रीतिग्रंथकारों ने लक्षणग्रन्थों में गुण, दोष, रीति, वृत्ति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि के लक्षणों के साथ उदाहरण दे देकर छुटपुट ढंग से किसी कवि की किसी प्रासंगिक उत्कृष्टता या निकृष्टता का संकेत किया जाता है। उसमें कवि का समग्र रूप गृहीत नहीं होता। रस मीमांसा अवश्य ऐसी है जिसमें काव्य के वस्तु विन्यास, भावचित्रण, भावों की मात्रा, भाषा आदि का सामूहिक रूप से समीक्षण करने का सिद्धान्त निहित है। पर उसमें भी चरित्र आदि का विचार करने का अवकाश नहीं रहता। अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति आदि के सिद्धांत रचना के समस्तरूप का स्पर्श नहीं कर पाते। इस दृष्टि से औचित्य मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह काव्य के सब अंगों का स्पर्श करता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार द्रष्टव्यता की कसौटी है औचित्य। काव्य या साहित्य में औचित्य की परीक्षा ही वास्तविक काव्य समीक्षा है। 'यदि कोई महिला अपने गले में तगड़ी, कमर पर हार, हाथ में नूपुर और पैरों में भुजबंध बांध ले, इसी प्रकार यदि कोई अपने सामने झुके हुए व्यक्ति पर बहादुरी और शत्रु पर करुणा दिखाए तो सब लोग उस पर हँसेंगे ही। औचित्य के बिना न तो कोई सजावट अच्छी लगती है और न गुण।'

> कंठे मेखलया नितंबफलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुरबंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा,
> शौर्येण प्रणतेरिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्,
> औचित्येन बिना रुचिं न तनुते नालंकृतिर्नो गुणः।

क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार, इस दृष्टि से यूरोप के समीक्षा मार्गों के निकट प्रतीत होता है।

अब हमें यह देखना चाहिए कि औचित्य की दृष्टि से उधर भी कला के समीक्षण का कार्य हुआ है या नहीं। आश्चर्य है कि उधर यहाँ से भी अधिक इस पर बल दिया गया है।

सबसे पूर्व यूनान में इसका प्रयोग संगीत शास्त्र के सिद्धान्तों के संबंध में किया गया। आगे चलकर इसका संबंध भाषण कला के साथ जुड़ा। उस समय इसका स्वरूप दार्शनिक अधिक था। व्यावहारिक रूप से इसका अनुवर्तन नहीं होता था। अरस्तू ने भाषण शास्त्र के प्रसंग में कवि अंश में इसका विचार किया। उन्होंने इसे 'प्रेपेन' नाम से व्यवहृत किया है। अरस्तू का शिष्य थियोफ्रेस्टस हुआ। उसने औचित्य को शैली का गुण माना। इसके अनन्तर यह भाषण शास्त्र तथा काव्य शास्त्र के गुणों में प्रधान तत्व माना जाता रहा। यह स्थिति आगे तक चलती रही। कुछ समीक्षक औचित्य तत्व पर इतना बल देते थे कि शैली तथा उसके प्रकारों को औचित्य का ही रूपान्तर समझते थे। इसी आधार पर दी अनूसियस ने इस प्रसंग में कहा है कि—'लेख के जिस अंग में औचित्य नहीं होगा, वह यदि पूर्ण रूप से व्यर्थ नहीं है तो कम से कम उसका महत्वपूर्ण अंश अवश्य व्यर्थ होगा।'

इसी तत्व को सिसरो ने लैटिन में 'डैकोरम' नाम दिया है और इसकी बारबार दुहाई दी है। हौरेस और क्विन्तीलिय ने भी औचित्य के सिद्धान्त को बड़ी प्रमुखता दी है। मध्यकाल में श्री एस टौमस इसी सिद्धांत के पक्षपाती रहे हैं। वे सौन्दर्य को 'शुद्ध बाह्य औचित्य' कहते हैं। दांते ने इस सिद्धात को बड़ी गंभीरता के साथ स्वीकार किया था। यूरोप में जब पुनर्जागरण काल आया तो इसका प्रभाव काफी बढ़ गया। क्लासिकल युग में तो इसी का बोलबाला रहा, विशेषतः फ्रांस में। इंगलैण्ड के पुटेनहम् सिडनी और जौन्सन ने इसी सिद्धान्त का प्रचार किया। आगे चलकर ड्राइडन ने लेखनकला को विचारों तथा शब्दों का औचित्य माना था। यही बात अठारहवीं शताब्दी में जौन्सन के द्वारा अधिक स्पष्ट होकर व्यक्त हुई। रोमाण्टिक मार्ग के लेखकों ने भी रूढ़ि पर बल न देकर प्रकृति को महत्व दिया और दूसरी व्याख्या के साथ औचित्यवाद को कला में स्वीकारा। इस प्रकार यूरोप की कला समीक्षा में औचित्य की मान्यता बहुत काल तक तथा भिन्न-भिन्न रूपों मे वर्तमान रही है। अब कुछ विशदता के साथ एक एक का विचार किया जाय।

अरस्तू—सबसे पूर्व अरस्तू का इस विषय में क्या विचार है—यह दिखाने का प्रयास करते है। इन्होंने कला के विवेचन में दो ग्रन्थ लिखे हैं। पोइटिक्स और रिटोरिक। पहले में काव्य कला और दूसरे

में भाषण कला का उपपादन है। दोनों में ही औचित्य को मान्यता प्रदान की है। पोइटिक्स में घटनौचित्य, रूपकौचित्य, विशेषणौचित्य तथा विषयौचित्य चार प्रकार के औचित्य भेदों का वर्णन किया है। इनमें घटनौचित्य नाटक की कथावस्तु से सम्बन्धित है। इसका दुहरा अर्थ है। नाटक की घटना वस्तु जगत से सम्बद्ध होनी चाहिये। यही घटना उचित है। दूसरी अनुचित। अर्थात् अरस्तू के अनुसार घटना सत्य न हो तो संभव अवश्य हो। यह एक प्रकार का घटनौचित्य है। दूसरे प्रासंगिक घटना मुख्य या आधिकारिक घटना के उचित होनी चाहिये। इस प्रकार घटनौचित्य के दो भेद उन्होंने स्वीकार किये हैं।

रूपकौचित्य का अर्थ यह है कि गद्य को प्रभावशाली तथा सुन्दर बनाने के लिये रूपक का प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग में इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है कि रूपक उचित हो। वर्ण्य वस्तु का उत्कर्ष दिखाने में उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण तथा उसे ही न दिखाने के लिए हीन गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहियें। रूपक में उपमान और उपमेय का अभेद रहता है। इसमें यह देखना चाहिये कि उपमान उपमेय का समान कोटि, समान जाति तथा समान धर्म का हो। अन्यथा रूपक अनुचित हो जायगा। उषा को 'गुलाबी अँगुली वाली' कहना उचित है, बैंगनी अंगुली वाली कहना अनुचित।

विशेषणौचित्य में यह देखा जाता है कि प्रकरण में जो अर्थ हो उसकी पुष्टि करना विशेषण का काम है। इसलिए इस कार्य के लिए उपयुक्त विशेषण का प्रयोग करना चाहिये। यही विशेषणौचित्य है। परशुराम की निन्दा के प्रसंग में उसे 'मातृ हन्ता' तथा प्रशंसा के प्रसंग में 'पितृ ऋण का शोधक' कहना उचित होगा।

विषयौचित्य का सम्बन्ध भावोचित भाषा से है। भाषा भाव व्यंजक होनी चाहिये। भाव यदि उदात्त हैं तो भाषा क्षुद्र, दुर्बल न न हो। इसी प्रकार भाव यदि साधारण हैं तो भाषा में ओज या गांभीर्य अधिक नहीं होना चाहिये। भाषण करते समय अथवा गद्य या पद्य की रचना करते समय इस प्रकार के विषयौचित्य पर ध्यान न रखने वाले व्यक्ति की हँसी होती है।

रिटोरिक में भी अरस्तू ने औचित्य (Propriety) का विशद वर्णन किया है। यह यथार्थ में भाषौचित्य है। वक्ता का उद्देश्य होता

है श्रोता को अपने वश में लाकर अपने विचारों के अनुकूल बनाना। इसके लिए उसे रसानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। अनादर प्रकट करने में क्रोध की भाषा, किसी की लघुता व्यक्त करने में हीनता की भाषा एवं प्रशंसा करने में महत्व व्यंजक भाषा का प्रयोग करना भाषा की रसानुकूलता है। भाव और भाषा में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिये। यह भाषौचित्य है। भाषौचित्य वक्ता को विश्वसनीय और उक्ति को सत्य सिद्ध करता है। इसके अभाव में भाषण का सम्बन्ध कानों से भले ही हो; हृदय से नहीं होता।

इस प्रकार पाश्चात्य आलोचना के भरत मुनि अरस्तू ने पाँच प्रकार के औचित्य भेदों का उल्लेख अपने काव्यों में किया है।

लांगिनस—इसके अनन्तर तीसरी शताब्दी के आलोचक लांगिनस आते हैं, उनका ग्रन्थ 'औन दी सबलाइम्' पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की मौलिक रचना समझी जाती है। उसमें ग्रन्थकार ने अलंकारौचित्य तथा शब्दौचित्य दो प्रकार के औचित्यों का उल्लेख किया है। वे काव्य में भव्यता (Sublimity) के पक्षपाती हैं। उसकी पुष्टि अलंकारों द्वारा होती है। अलंकार शब्द तथा अर्थका सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं तथा काव्य में भव्यता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। दूसरी ओर भव्यता अलंकार के चमत्कार की पुष्टि करती है। इस प्रकार दोनों में परस्पर का उपकार्योपकारक भाव रहता है। पर यह बात तभी हो पाती है जब कि अलंकार का प्रयोग उचित हो। इस औचित्य का अर्थ यह है कि वह भाव के साथ-साथ ही जन्मा हो। भाव के साधारण होने पर विशेष प्रयत्न द्वारा कवि चमत्कार लाने के लिये अलंकार योजना बाद में करे—यह न होना चाहिये। आनन्द-वधन ने जो पृथक-यत्न-निर्वर्त्य तथा अपृथग्-यत्न-निर्वर्त्य दो भेद अलंकार प्रयोगों के माने हैं उनमें से दूसरा उचित है पहला अनुचित।

शब्दौचित्य को और भी स्पष्टता के साथ उन्होंने दिखाया है। काव्यकला में शब्द की बड़ी महिमा है। उचित तथा शोभन पदों का प्रयोग श्रोताओं के हृदय पर आकर्षण तथा आश्वासन की छाप डालता है। उनमें जीवनी शक्ति होती है। इसके बिना काव्य मृतकसा लगता है। 'सुन्दर तथा उचित शब्द अर्थ का वास्तविक आलोक है।'[1]

---

1. For in fact beautiful words are the very and peculiar light of thought.

शब्द का फिर औचित्य क्या वस्तु है इसके उत्तर में इन्होंने विषया-नुकूल शब्द प्रयोग ही बताया है। भव्य तथा महिमामंडित शब्दों का प्रयोग इसी प्रकार के विषयों के वर्णन में करना चाहिए। इसके विपरीत करने से शब्द प्रयोग उपहसनीय होगा। इससे स्पष्ट है कि लांगिनस काव्य में शब्दौचित्य की महिमा को ठीक-ठीक समझते थे।

हौरेस—इनका ग्रन्थ 'आर्ट पोइटिका' है। इसमें औचित्य की मान्यता और महत्त्व अनेकत्र दिखाये हैं। कवियों के लिए उसके तीन उपदेश हैं।

१—ग्रीक आदर्शों का अनुकरण करना।
२—पात्र के स्वरूप की रक्षा करना।
३—काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना।

काव्य या नाटक की कथा दो प्रकार की हो सकती है इतिहास प्रसिद्ध या कविकल्पित। इनमें पहले प्रकार की कथा पर यदि काव्य लिखा जाय तो उसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसके पात्रों का स्वभाव इतिहास परम्परा में जैसा है, काव्य में वैसा ही चित्रित किया जाय। परम्परा का अतिक्रमण न हो। कथा यदि कवि कल्पित है तो कवि ने पात्रों की अवतारणा जिन-जिन स्वभावों के साथ की है उनकी अन्त तक पालना करनी चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि जो पात्र पहले उद्धत स्वभाव का दिखाया गया है उसी को फिर नम्र, शिष्ट अंकित किया जाय। इससे औचित्य की हानि होती है।

यह तो रहा चरित्र चित्रण के विषय में। अभिनय के विषय में भी उसने औचित्य की रेखायें खींची हैं। इसमें दो बातों का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए। एक तो अभिनेय भाव के अनुरूप ही चेष्टा करनी चाहिये। दर्शकों में यदि उल्लास, आनन्द आदि की भावना जगानी हो तो अभिनेता इन भावों की उत्तेजिका भाषा ही न बोले, उसका मुख भी प्रसन्न और हास्यमय हो। इसके अतिरिक्त नाटक की वे ही घटनायें अभिनेय होती हैं जो रसानुकूल और उचित हों। नीरस, विरस अथवा अनुचित घटनाओं की, जैसे मृत्यु, युद्ध, दाह संस्कार, मैथुन आदि की केवल सूचना देनी चाहिए। सूच्य का अभिनय अनुचित है। मीडिया स्त्री पात्र ने परिस्थिति वश अपने

पुत्रों का वध कर डाला था। यह घटना नाटक में सूच्य है। अभिनेय नहीं। परशुराम का मातृवध, भीम द्वारा दुःशासन के रक्त से द्रौपदी का केशसिंचन आदि घटनायें ऐसी ही हैं। दशरूपक के अनुसार भी अभिनेय वस्तु के दृश्य, श्रव्य तथा सूच्य तीन विभाग हैं। इसमें औचित्य का सिद्धान्त ही कार्य करता है।

हौरेस ने छन्दों के औचित्य का भी विधान किया है। जिस प्रकार का विषय हो उसी के अनुकूल छन्द का चुनाव कवि को करना चाहिए। ग्रीक साहित्य में भावों के आधार पर काव्यों के भेद किये गए हैं, जैसे करुण काव्य (Elegy) व्यंग्य काव्य (Satire) दुःखान्त नाटक (Tragedy) तथा सुखान्त नाटक (Comedy) कहलाते हैं। हौरेस का कथन है कि इन काव्यों के लिये छन्द नियत हैं। उन्हीं का आश्रयण कवि को करना चाहिए। यह भावानुसारी छन्द प्रयोग है। भारतीय आचार्यों ने भी इस प्रकार का पर्याप्त विचार किया है। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त तिलक' में छन्दगत औचित्य का विचार किया है। संस्कृत में कालिदास और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने भी भावानुसारी छन्दों का प्रयोग किया है।

यूरोप के क्लासिकल युग में औचित्य की पूरी-पूरी मान्यता रही है। इस मार्ग के अनुयायी कवि तथा आलोचकों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में अनुशासन की मान्यता वर्तमान थी। शास्त्र तथा लोक दोनों का ही अनुशासन कला में उन्होंने माना था। लोक का अनुशासन औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने काव्य समीक्षा के प्रेरणातत्त्व जिस प्रकार जीवन से लिये थे, उसी प्रकार क्लासीकल समीक्षकों ने भी काव्यालोचन का आदर्श लोक को माना है। लोक के उदात्त, शिष्ट रूप को आदर्श बनाया है। यही औचित्य की मूल भावना है।

यह समीक्षा पद्धति ग्रीक साहित्य के प्रभाव काल में ही रही हो, ऐसी बात नहीं है। उसके बहुत बाद में १८वीं शताब्दी में भी महाकवि पोपने औचित्य पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ऐसे ऑन क्रिटिसिज़म' में भाव के अनुसार वर्णों का प्रयोग करने पर बड़ा आग्रह किया है। उनके अनुसार वर्ण अर्थ की प्रतिध्वनि होना चाहिए। मलयानिल के चलने का काव्य में चित्रण हो तो शब्द भी सरसराते, मंदगति से बहते से होने चाहियें। इसके विपरीत प्रचण्ड

झंझावात के कारण यदि समुद्र की भयंकर लहरों का वर्णन करना है तो शब्द भी ओजस्वी कठोर तथा सुश्लिष्ट होने चाहियें। संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिकूलवर्णता दोष में इसी तत्त्व को समझाया है। वास्तव में यह वर्णों का औचित्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य कला के क्षेत्र में औचित्य की मान्यता भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों ने समान रूप से की है। इससे उक्त तत्त्व की व्यापकता, मूलानुबंधिता एवं अवश्यापेक्षा का पता चलता है। यह काव्य का ऐसा मूल तत्त्व है कि सब की दृष्टि इस पर पड़ी है। उसका कारण है, काव्य की समीक्षा करते समय जिस का भी ध्यान जीवन पर जायगा, जो भी यह विचारेगा कि जीवन का काव्य के साथ अभेद्य सम्बन्ध है तो वह इस साधारण नियम की अवहेलना नहीं कर सकता। औचित्य और कुछ नहीं, काव्य के साथ जीवन के सम्बन्धों का सामान्य वाचक शब्द है। इसे कोई शास्त्रीय ढंग से माने या न माने, इसकी भावना को सर्वथा भुला नहीं सकता। जिन लोगों ने औचित्य का नामतः निर्देश नहीं किया है उन्होंने काव्य में जो गुण दोष विचार किया है वह औचित्य का ही विचार है। इसका कारण यही है कि यह काव्य का मूल तत्त्व है। इसीलिये भारत तथा यूनान के आदि समीक्षक भरत एवं अरस्तू की दृष्टि पहले अवसर में ही इस पर पड़ी।

इतना अन्तर अवश्य है कि पाश्चात्य समीक्षकों ने जो औचित्य का विचार किया है वह अपूर्ण तथा बाह्य है। काव्य के समस्त अङ्ग प्रत्यगों में इसके दर्शन करने की क्षमता उनमें नहीं मिलती। क्षेमेन्द्र तथा आनन्द वर्धन में यह अन्तर्गामिनी दृष्टि विद्यमान है। आनन्द वर्धन का इस विषय का उल्लेख प्रासंगिक है। मुख्य विषय है ध्वनि। अतः औचित्य का विस्तार वहाँ नहीं मिलता। फिर भी जितना उन्होंने लिखा है वह गम्भीर है और उससे पता चलता है कि वे इसकी गम्भीरता और व्याकता अच्छी तरह अनुभव करते थे।

क्षेमेन्द्र ने इन्हीं से प्रेरणा ली। उन्होंने औचित्य की व्यापकता तथा अनिवार्यता बड़ी व्यवस्था और सफाई के साथ दिखाई है। दूसरे सिद्धान्तों के विषय में उनका विचार बड़ा स्पष्ट है। वे इस दल दल में नहीं फँसे कि पहले सब मतों के खण्डन पर ही अपने औचित्य

का भवन बनाते। वे तो केवल इतना भर दिखाना चाहते हैं कि काव्य में रस, अलंकार जो भी रह सकते हैं रहें। वे सब उसकी शोभा बढ़ावें या उसे स्वरूप प्रदान करें। पर औचित्य के बिना वे सब निरर्थक हैं, कृतकार्य नहीं। अतः काव्य की समीक्षा करते समय इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिये उन्होंने अलंकार रस आदि सब में औचित्य की आवश्यकता दिखाई है।

———

कवि शिक्षा

काव्य मीमांसा में 'औचित्य विचार चर्चा' की भाँति क्षेमेन्द्र ने कवि शिक्षा पर 'कविकंठाभरण' ग्रन्थ लिखा है। कलेवर में यह ग्रन्थ यद्यपि अधिक विस्तृत नहीं है फिर भी ग्रन्थकार ने जिस व्यावहारिक दृष्टि से समस्या को समझा और सुलझाया है तथा इस प्रकार के व्यापक और अस्पष्ट विषय का जैसी स्पष्टता और सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया है वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इस क्षेत्र में भी क्षेमेन्द्र महान सिद्ध होते हैं।

पूर्ण परिचय के लिये इस विषय की परम्परा देखनी चाहिए। काव्य मीमासकों ने कवि शिक्षा का दो प्रकार से प्रतिपादन किया है—साक्षात् और परम्परा से। पहली श्रेणी में वे आचार्य हैं जिन्होने स्वतंत्र ग्रन्थ या ग्रन्थ का कुछ भाग इस विषय पर लिखा है। ये हैं काल क्रम से दण्डी, रुद्रट, वामन, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, वाग्भट, अरिसिंह और केशव। ये नौ हैं। क्षेमेन्द्र दो चतुष्टयी के मध्य में आते हैं। चार उनसे पहले के और चार बाद के आचाय हैं। इस स्थिति में तुलनात्मक अध्ययन से इनके कृतित्व की स्पष्ट परीक्षा हो सकती है। दूसरी श्रेणी परम्परा से कवि शिक्षा देने वाले आचार्यों की है। इस कोटि में वे सभी आ जाते हैं जिन्होंने किसी न किसी रूप में काव्य मीमांसा पर लेखनी उठाई है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य तो काव्य का स्वरूप, वृत्तियां, अलंकार, गुणदोष आदि होते हैं पर दोषों के प्रकरण में उनका पर्याप्त विस्तार कर कवियों को उनसे बचने का संकेत वे देते हैं। यही उनकी कविशिक्षा है। आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, भोज, जगन्नाथ आदि सभी ऐसे हैं। शिक्षार्थियों के भेद, कवियों के भेद, कवि शिक्षा, अभ्यास के उपाय आदि विषय पहली श्रेणी के आचार्यों के यहाँ प्रमुख होते हैं। इनके यहाँ यह सब छुटा रहता है। एक-एक को लें।

दण्डी—दण्डी ने अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में तीन कारिकायें इस विषय पर लिखी हैं। इनके अनुसार कवि में तीन गुण आवश्यक है—नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल श्रुति और अमन्द लगन। प्रतिभा परमेश्वर का दिया हुआ गुण है। यह प्रयत्नों से अर्जित नहीं की जाती। दूसरे दो प्रयत्न लभ्य हैं। निर्मल काव्य नाटक, शास्त्र, इतिहास आदि

का अधिक से अधिक अध्ययन, श्रवण कवि को करना चाहिये। इसमें अपनी संस्कृति का परम्पराप्रवाह अवगत होता है और कवि के विचार संतुलित होते हैं। तीसरा गुण अमन्द अभ्यास का है। इससे वे लोग भी कवि बन सकते हैं जिनमें प्रतिभा नहीं होती। परिश्रम पूर्वक सावधानी से यदि सरस्वती की उपासना की जाय तो साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी कवि बन सकता है। यद्यपि यह सरस्वती का अनुगृहीत कवि प्रतिभावान से हेठा होगा।

रुद्रट—रुद्रट ने अपने ग्रंथ काव्यालंकार में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से दण्डी के समान ही विचार व्यक्त किये हैं। वे शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य रचना का कारण समझते हैं। इनमें से शक्ति तो वह स्वाभाविक क्षमता है जिसके कारण नवीन विचारों की किरणें स्वतः बुद्धि में आती हैं। व्युत्पत्ति लोक और शास्त्र का ज्ञान है। अभ्यास से इन दोनों गुणों का परिवर्धन तथा परिष्कार हो जाता है। इससे कवि की प्रतिभा निखर कर लोकवन्द्य अमर कृतियों की सृष्टि करती है।

वामन—आचार्य वामन ने इसे भिन्न शैली से बताया है। उनके अनुसार काव्य के मूलतत्त्व हैं-लोक, विद्या और प्रकीर्ण। इनमें पहला है लोक का विवेकपूर्ण पर्यवेक्षण। इससे अपने समय की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान कवि को हो जाना चाहिये। विद्या में व्याकरण, कोश छन्द, कला, काम शास्त्र राजनीति आदि परिगणित हैं। प्रकीर्ण में अनेक बातें आ सकती हैं। वामन ने लक्ष्य का ज्ञान, प्रयोग, श्रेष्ठ कवियों का सत्संग, परीक्षा, कल्पना और अवधान ये छः इसमें गिनाये हैं। कल्पना प्रतिभा का नामान्तर है। यह काव्य की जननी है। अवधान चित्त की एकाग्रता है। इसकी साधना एकान्त और ब्रह्मबेला में हो सकती है।

राजशेखर—इनके बाद प्रसिद्ध आचार्य कवि राजशेखर आते हैं जिन्होंने इस विषय पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य मीमांसा' लिखा है। इनका प्रतिपादन बड़ा विस्तृत अथच वैज्ञानिक है। ये कवि का आलोचक होना भी आवश्यक समझते हैं। काव्य का कारण केवल एक ही है—प्रतिभा। वही कवि में शब्द अर्थ, अलंकार, शैली तथा अन्य गुणों का प्रतिभास कराती है। यह दो प्रकार की होती है—

कारयित्री तथा भावयित्री। कारयित्री रचनात्मक शक्ति है, भावयित्री आलोचनात्मक।

कवि—कारयित्री प्रतिभा का धनी कवि होता है। यह प्रतिभा जन्मजात, प्रयत्न जात तथा उपदेश जात तीन प्रकार की होती है। राजशेखर प्रतिभा को प्रयत्न तथा उपदेश द्वारा उपार्जनीय समझते हैं। उनका आग्रह है कि बिना इसके काव्य रचना हो ही नहीं सकती। इसलिये अभ्यास सिद्ध कवियों में भी इसकी विद्यमानता मानी है। पर इनमें उत्तरोत्तर अपकर्ष है। जन्मजात प्रतिभा वाला कवि सारस्वत है। यह अपनी मनमौज से रचना करता है जो कृषकसे लेकर कलाविज्ञ तक सर्वत्र फैल जाती है। प्रयत्नजात प्रतिभा वाले की क्षमता सीमित रहती है। इसकी रचनाओं की पहुँच पड़ोसियों तथा मित्रों तक रहती है। औपदेशिक कवि गुरुओं के उपदेश द्वारा थोड़ी क्षमता कमा लेता है। इसकी रचनायें सुन्दर पर निस्सार होती हैं। उनका प्रसार केवल उसके ही घर में होता है।

आलोचक—भावयित्री प्रतिभा वाले भावक हैं। उनके दो भेद हैं। अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। पहले सब प्रकार की कृतियों से नाक सिकोड़ते है। दूसरे बुरी भली सब प्रकार की रचनाओं पर मुग्ध हो जाते हैं। तिनकों समेत भोजन खा जाते है। यायावरीय लोग इनमें दो भेद और जोड़ते हैं, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी। मत्सरी रचना को ईर्ष्या के साथ देखता है अतः उसकी अभिनंदना नहीं करता। तत्त्वाभिनिवेशी मनन करता हुआ रचना के अन्तस्तत्त्व तक पहुँचता है। वह सच्चा मर्मज्ञ है। श्रेष्ठ आलोचक वह है जो स्वयं कवि भी हो तथा गुण-दोष विवेकी भी हो। राजशेखर की मान्यता है कि उक्त आलोचनागुण कवि में भी होने आवश्यक हैं। तभी वह अपनी और परायी रचना को परख सकेगा। इनमें श्रेष्ठ आलोचक तत्त्वाभिनिवेशी है। कवि को ऐसा ही होना चाहिए। बिना विवेक अंधमधुन्ध रचना करने वाले तो कवि नहीं कपि हैं। 'कुकविः कपि रेव वा।'

प्रतिभा के अतिरिक्त दूसरा सहायक साधन व्युत्पत्ति है। साधारणतया इस शब्द से ज्ञान संपत्ति का तात्पर्य लिया जाता है पर आचार्यों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, व्यापक ज्ञान, उचितानुचित विवेक आदि। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति में किस का महत्त्व

अधिक है, इस विषय पर भी लोग एक मत नहीं। कुछ पहली को तो कुछ दूसरी को महत्त्व प्रदान करते हैं। समन्वयवादी लोग दोनों के समन्वय को काव्य का कारण समझते हैं।

कवियों के भेद—कवियों के अनेक भेद हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि तथा उभयकवि आदि। पहले शास्त्रों के आधार पर काव्य रचना करते हैं। काव्यकवि अपेक्षा कृत मौलिक होते हैं। उन्हें काव्यों से प्रेरणा मिलती है। उभयकवियों में दोनों से अर्थात शास्त्रों और काव्यों से प्रेरणा मिलती है। स्वाभाविक है कि पहला रूक्ष, दूसरा सरस और तीसरा श्रेष्ठ कवि होता है। काव्य कवि के आठ उपभेद हैं—शब्द कवि, अर्थ कवि, अलंकार कवि, उक्ति कवि, रस कवि, मार्ग कवि और शास्त्राथ कवि। इनके नामों से ही लक्षण जाने जा सकते हैं।

काव्यपाक—राजशेखर ने एक और उल्लेख्य दिशा में विचार किया है। रचना की पूर्णता किसे कहना चाहिए तथा उसका रूप क्या होता है इस तथ्य का 'काव्य पाक' नाम से उन्होंने विवेचन किया है। इसके बिना रचना का प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विषय में भी आचार्यों का मतभेद है। आचार्य मंगल इसे साहित्यिक परिणाम कहते हैं। वृद्ध आचार्यों के अनुसार काव्यपाक शैली की वह पूर्णता है जिसमें शब्द अपरिवर्तनीय होते हैं। ऐसी रचना में किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायान्तर प्रयुक्त नहीं हो सकता। इनका कहना है कि जब तक कवि की बुद्धि ढुलमिल रहती है तभी तक वह शब्दों को अदलता बदलता रहता है। जब सरस्वती सिद्ध हो जाती है तो पद सदा के लिये स्थिर हो जाते हैं।

अवापोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्तसिद्धा सरस्वती।

कवयित्री अवन्तिसुन्दरी इस विचार से सहमत नहीं। उसके अनुसार महाकवियों की कृतियों में भी पर्याय क्षमता विद्यमान है। इसके अनुसार काव्य पाक भावानुकूल अभिव्यक्ति है।

कवि शिक्षा—कवि शिक्षा का भी राजशेखर ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है। बुभूषु कवि को सर्व प्रथम भाषा पर अधिकार प्राप्त करना चाहिये। इसके लिये संज्ञायें, क्रियायें, कोश, छन्द तथा

अलंकार का अभ्यास करना होगा। कवि के व्यक्तित्व में आठ गुण अपेक्षित हैं। स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, दृढ़ स्मृति और अनिर्वेद। इसके अतिरिक्त कवि को पवित्र रहना चाहिए। यह पवित्रता शब्द, बुद्धि तथा शरीर तीनों की हो।

कवि के निर्माण में उसकी बाह्य साधन सामग्री का भी बड़ा हाथ रहता है। उसे एक ऐसा आवास मिलना चाहिए जिसमें साहित्य की प्रेरणा मिले और थोड़ा भी मानसिक क्लेश न हो। उसके सेवक बड़े विनीत और बुद्धिमान हों, अनेक भाषाओं के बोलने में सक्षम हों। उसका लेखक भी बड़ा योग्य हो। वह तो आधा कवि हो। लेखन सामग्री सब प्रकार से सम्पन्न होनी चाहिये। कवि के लिये इस प्रकार के राजस जीवन की शिक्षा देते हुए आचार्य की दृष्टि समाज तथा आश्रयदाताओं पर गई है। वे एक ओर कवि से कला द्वारा राष्ट्र के मार्ग प्रदर्शन की आशा करें और दूसरी ओर उसे साधारण सुविधा भी न प्रदान करें, यह अनुचित है। कवि की भावुकता ओस की बूंद है जो थोड़ी सी प्रतिकूलता को वायु बहने पर धूल में मिल सकती है। अतः उसकी रक्षा का उपाय होना चाहिए। साथ ही राजशेखर यह भी कहते हैं कि बाह्य साधन सहायक मात्र होते हैं। मुख्य वस्तु तो प्रतिभा है।

और भी शिक्षायें उन्होंने कवि के लिये दी हैं। रचना प्रारम्भ करने से पूर्व उसे अपनी प्रतिभा परख लेनी चाहिए। अपना भाषाधिकार, समाज की तत्कालीन रुचि, अपना प्रिय विषय आदि भी पहले विचार लेने चाहिएं। उसे उचित अवसर पर अपनी रचनाओं का पाठ करना चाहिए। कवि की दैनिकचर्या भी नियमित हो। इसमें कवि का काव्य के सिवाय दूसरी बात पर ध्यान न जाय।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि राजशेखर ने विषय का प्रतिपादन बड़े विस्तार और शास्त्रीयता के साथ किया है। पर इसमें व्यवस्था तथा योजना की कमी है। प्रत्येक बात पर मतभेद दिखा कर विस्तार करने की प्रवृत्ति बहुत है। प्रतिभाओं, आलोचकों तथा कवियों के भेद इसका प्रमाण हैं। औपदेशिक कवि को इन्होंने इतना हेठा माना है कि वह महाकवि बन ही नहीं सकता। यह निर्णय भी सत्प्रतिपक्ष है। इतिहास परम्परा से कालिदास, भारवि आदि औपदेशिक

कवि ही थे। वे महाकवियों के मूर्धन्य माने जाते हैं। कवि के लिये जैसा राजसी जीवन उन्होंने बताया है वह भी अव्यवहार्य है। वह अप्राप्य ही नहीं कवि की प्रतिभा के पंखों का भार भी बन सकता है।

क्षेमेन्द्र— राजशेखर के बाद क्षेमेन्द्र ने इस दिशा में कार्य किया है। इनकी एतद्विषयक रचना 'कविकंठाभरण' है। यह आकार में यद्यपि छोटी है पर अपेक्षित सभी विवरण इसमें विद्यमान हैं। राजशेखर का सा अतिविस्तार, भेद उद्भेदों की अत्यधिक कल्पना का प्रपंच इसमें नहीं है ग्रन्थ में योजना व्यवस्था तथा व्यावहारिकता बहुत है। इस विषय पर बड़े ग्रन्थ तीन हैं—'काव्य मीमांसा', 'काव्य कल्पलता वृत्ति' तथा 'कविकण्ठाभरण'। इनमें सब से अधिक उपयोगी, तथा परिष्कृत पुस्तक इसे ही कह सकते हैं। शेष दोनों पुस्तकों में इतना अधिक विस्तार है कि ये उनके लिये विशेष उपयोगी नहीं है, जिनके लिये लिखी गई हैं।

शिक्षार्थी का क्रमिक विकास—क्षेमेन्द्र के अनुसार प्रारम्भ से पूर्णता प्राप्त करने तक शिक्षार्थी के पाँच क्रमिक विकास होते हैं। उन्हीं के नाम पर कविकण्ठाभरण के पाँच अध्याय (संधियाँ) हैं। इनमें प्रथम है अकवि को कवित्वाप्ति। यहाँ कवित्व का तात्पर्य कलात्मक मनोवृत्ति से है। काव्यादि के अनुशीलन से वह संभव होती है। दूसरा विकास क्रम ज्ञान और अभ्यास का है जिसे क्षेमेन्द्र ने शिक्षा कहा है। इस अवस्था में पद्य बन्धन की क्षमता आ जाती है। अतः इसके बाद चारुता लाना आवश्यक होता है। इसलिये तीसरे पद क्रम में चमत्कार प्राप्ति की आवश्यकता तथा उपाय बताये हैं। यहाँ कविता के रूप का जहाँ तक सम्बन्ध है वह पूर्ण हो जाता है। अब कवि को गुण दोषों का ज्ञान प्राप्त कर उससे कविता को निमुक्त रखने की आवश्यकता होती है। अतः चौथे अध्याय में गुण दोष परिज्ञान का ही विवेचन हुआ है। अन्त में प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए कवि को लोक तथा शास्त्र दोनों का अधिकाधिक परिचय बढ़ाना चाहिये। पंचम अध्याय परिचय प्राप्ति का है। इस प्रकार कवित्वाप्ति, शिक्षा, चमत्कृति, गुणदोष विज्ञान तथा परिचयप्राप्ति इन पाँच विकास कक्षाओं उत्तीर्ण होकर शिक्षार्थी पूर्णकवि बन सकता है। इनमें से एक-एक पर कुछ अधिक विशदता से विचार करना आवश्यक है।

कवित्वाप्ति—कवित्वाप्ति दो प्रकार से होती है—दिव्य उपायों से तथा मानुष प्रयत्नों से। दिव्य उपाय है 'ॐ रें क्लीं सौं ॐ सरस्वत्यै नमः' इस मन्त्र का जाप। इससे प्रत्येक साधक को सरस्वती की कृपा प्राप्त होती है। क्षेमेन्द्र का यह अनुभूत प्रयोग था। मानुष प्रयत्न शिक्षार्थी की योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न हैं। शिक्षार्थी तीन प्रकार के होते हैं—अल्पप्रयत्न साध्य, कष्ट साध्य तथा असाध्य। इन्हीं को क्रमशः सुशिष्य, दुःशिष्य तथा अशिष्य भी कहा जाता है। सुशिष्य को चाहिये कि वह साहित्य के जानकारों की सत्संगति में भाषा तथा छन्द विधान का अभ्यास करे, उत्साह के साथ मधुर काव्यों को सुने तथा अन्य तत्संबन्धी ज्ञान एकत्र करे। उसे शुष्क वैयाकरण या नीरस नैयायिक को गुरु नहीं बनाना चाहिये। दुःशिष्य को चाहिये कि वह कालिदासादि के काव्यों को देखे, महा कवि से प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उसकी एक चित्त होकर परिचर्या करे, दूसरों के पद्यों के पद, पाद आदि को परिवर्तित करने का अभ्यास करे तथा अर्थशून्य शब्दों को जोड़ पद्य बनाये इत्यादि। तीसरा अशिष्य है। वह या तो स्वभाव से कठोर हृदय का व्यक्ति होता है अथवा व्याकरण या तर्क द्वारा उसकी काव्य प्रतिभा नष्ट हो जाती है। इसके हृदय में कवित्व वृत्ति का उदय नहीं हो सकता भले ही अच्छी से अच्छी शिक्षायें वह प्राप्त करे। सिखाने पर भी गधा गाता नहीं है और दिखाने पर भी अंधा देख नहीं लेता।

शिक्षा—इस प्रकार कवि कीमनोवृत्ति बन जाने पर शिक्षार्थी को सर्व प्रथम छायोपजीवन द्वारा रचना का अभ्यास करना चाहिये। छायोप जीवन का अर्थ है दूसरे प्रसिद्ध कवियों के पद्यों के पद, पाद अथवा समस्त पद्य के अनुकरण में अपना पद्य बनाना। इसके द्वारा रचना कार्य में प्रवेश होता है। इसके साथ साथ क्षेमेन्द्र ने सौ शिक्षायें और दी हैं जो कवि की जीवन चर्या तथा अध्ययन से सम्बन्धित हैं। वे इस प्रकार हैं—सरस्वती व्रत, यज्ञानुष्ठान, गणेशपूजन, विवेकशक्ति अभ्यास, खोज, प्रौढ़ि, अश्रम, छन्दपूर्ति, उद्योग, दूसरे की रचनाओं का पाठ, काव्य शास्त्र का ज्ञान, समस्यापूर्ति, कवियों का सत्संग, महाकाव्यों का आस्वादन, शिष्टता, सज्जन मैत्री, सौमनस्य, सुवेष अभिनयों का देखना, सरसता, कवियों को दान देना, गीत सुनना, लोकाचार परिज्ञान, प्रसिद्ध कथाओं का आस्वादन, इतिहास का अनसरण करना, चित्रों को देखना, शिल्पियों के कौशल को देखना

वीरावलोकन, युद्धावलोकन, शोक प्रलाप को सुनना, श्मशान या अरण्य देखना, व्रती लोगों की सेवा, नीड तथा आयतनों का देखना अच्छा भोजन, धातुसाम्य, (स्वास्थ्य) शोक न करना, प्रभात में जागना, प्रतिभा, स्मृति, आदर, सुखासन, दिन में सोना, गर्मी ठण्डक से बचाव, पत्र लेख्य आदि देखना, प्रहसनों का परिचय, प्राणियों के विविध स्वभाव का प्रेक्षण, समुद्रादि के दर्शन, सूर्य चन्द्र तारों तथा ऋतुओं का ज्ञान, मेले, उत्सव आदि में जाना, देश भाषा के काव्यों से भावग्रहण करना, पद रखने व हटाने की बुद्धि, संशोधन, स्वतन्त्रता, यज्ञ, सभा, विद्यालय आदि में ठहरना, तृष्णा न करना, परोत्कर्ष को सहने की क्षमता, आत्मश्लाघा करने में लज्जा का अनुभव करना, बार-बार दूसरों की प्रशंसा करना, अपने काव्यों को सुनाने का साहस, वैर किंवा मत्सरता का त्याग, दूसरे के उत्कर्ष को सदुपायों से जीतने की इच्छा, ज्ञान के लिए सब का शिष्य बनने की उदारता, कविता पाठ के अवसरों की पहचान, श्रोताओं के चित्त का अनुवतन, इंगित तथा आकार से दूसरों के भाव पहचानना, उपादेय का ही काव्य में निबंधन करना, कविता के बीच बीच में उपदेश देते रहना, रस प्रसंग को अधिक लम्बा न बनाना, अपनी सूक्तियों का प्रचार, चतुरता, पाण्डित्य नि संगता, एकान्त प्रियता, आशा, त्याग, संतोष, सात्विकता, अयाचकता, शिष्टता, काव्य रचना का आग्रह, मध्य-मध्य में विश्रामग्रहण, नवीनवस्तु के उत्पादन का प्रयत्न, सब देवताओं की स्तुति पराक्षेप की सहिष्णुता, गंभीरता, निर्विकारता, आत्मश्लाघी न होना, दूसरों की अधूरी कृतियों को पूरा करना, दूसरों के अभिप्राय को प्रकारान्तर से अपनी रचना में व्यक्त करना, दूसरों के अनुकूल भाव व्यक्त करना, प्रसाद गुण वाले पदों का प्रयोग, प्रसंगोचित अर्थ को अभिव्यक्त करना, निर्विरोध रस का वर्णन करना, व्यस्त एवं समस्त भाषा का प्रयोग, प्रारम्भ किये काव्य को पूरा करना और वाणी में चमत्कार पूर्ण प्रवाह लाना। ये सौ शिक्षायें हैं जो काव्य में रुचि उत्पन्न होने के अनन्तर पालन करनी चाहिये।

अभ्यास—इन सौ शिक्षाओं में आचार्य का तात्पर्य बौद्धिक विकास करने के साथ-साथ काव्य रचना का अभ्यास कराने से है। उन्होंने अभ्यास के २३ उपाय बताये हैं। ये भाषा, भाव तथा कला तीनों में सौष्ठव लाने के लिए हैं। भाषा सम्बन्धी अभ्यास जैसे दूसरों के

अभिप्राय को प्रकारान्तर से अपनी भाषा में व्यक्त करना, प्रसाद गुण युक्त शब्दों का प्रयोग, भाषा में चमत्कार तथा प्रवाह लाना आदि। भाव सम्बन्धी अभ्यास अनेक प्रकार से किया जा सकता है। दूसरों के भाव अपनाना, प्रसंगोचित अर्थ व्यक्त करना आदि। कला साधना के भी इसी प्रकार अनेक उपाय हैं—छन्द पूर्ति, समस्या पूर्ति, रचना के मध्य-मध्य में उपदेश, रस प्रसंग को अत्यधिक लंबा न करना आदि आदि।

बौद्धिक विकास—कोरे अभ्यास से पदयोजना तो हो सकती है पर काव्य नहीं रचा जा सकता। अतः बौद्धिक विकास पर क्षेमेन्द्र ने अभ्यास से कहीं अधिक बल दिया है। इसके लिये ७७ उपाय बताये है। यह चार प्रकार की साधनाओं से हो सकता है—ज्ञानवर्धक अथवा भावोत्तेजक कार्य करने से, बौद्धिक शक्तियों को प्राप्त करने और बढ़ाने से, भद्रकाव्यानुकूल स्वभाव बनाने से और शिष्ट चर्या और व्यवहार का पालन करने से। इनमें पहले और दूसरे उपाय बौद्धिक विकास के साक्षात कारण हैं; तीसरे और चौथे सहायक कारण। पहली श्रेणी के कार्य अर्थात् ज्ञानबर्धक और भावोत्तेजक कार्य २२ हैं। ज्ञानवर्धक कार्य जैसे काव्यशास्त्र का ज्ञान, काव्यों का आस्वादन, अभिनय प्रेक्षण, इतिहास का अनुसरण आदि। भावोत्तेजक कार्यों में ऐसे स्थान तथा दृश्यों का देखना लिया गया है जो भावों को उभारते हैं, जैसे वीरों का, युद्धों, श्मशान, अरण्य, आयतन, समुद्र आदि का देखना आदि।

बौद्धिशक्तियों का उपार्जन करना एवं उन्हें बढ़ाना भी बौद्धिक विकास का कारण है। कवि को विवेकशक्ति, प्रतिभा, स्मृति, चतुरता, पाण्डित्य आदि गुणों को उपार्जित करना चाहिये तथा उनके संवर्धन का अभ्यास करना चाहिये।

चर्या—सहायक साधन बाह्य और आन्तर दो प्रकार के हैं। बाह्य में चर्या और व्यवहार आता है और आन्तर में सात्विक स्वभाव की साधना। दिनचर्या के २२ उपाव तथा स्वभाव साधना के २४ उपाय बताये गए हैं। कवि की दिनचर्या संयत सात्विक और कला के अनुकूल होनी चाहिये। सरस्वतीव्रत, यज्ञानुष्ठान, गणेशपूजन, कविसत्संग, आदि से सात्विकता आती है। प्रभातजागरण, सुखासन, गर्मी, ठंडक आदि से बचाव करने, विश्राम द्वारा श्रम न होने देने आदि से शरीर

स्वस्थ रहता है। क्षेमेन्द्र के बताये मार्ग पर चलने से शरीर और बुद्धि दोनों स्वस्थ रह सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। यह बौद्धिक विकास का बाह्य सहायक साधन है।

स्वभाव—आन्तरिक सहाय साधनों के अन्तर्गत स्वभाव साधना के २४ उपाय आते हैं। शिक्षार्थी कवि को अपना स्वभाव सात्विक, उत्साहपूर्ण, शिष्ट, उदार तथा अदीन बनाना चाहिये। इसके लिये वह सज्जनों से मैत्री करे, सरस बने, प्रौढ़ तथा स्वतंत्र हो, दूसरों के उत्कर्ष को सहे और अपनी प्रशंसा स्वयं न करे। हाँ दूसरों की प्रशंसा खूब करे। अपनी आलोचना यदि कोई करे तो उसे सहन करे। क्रोधादिविकार न आने दे। तृष्णा, याचना आदि करना उसके व्यक्तित्व में टांका लगायेंगे अतः उन्हें त्याग दे। ज्ञानोपार्जन के लिये वह इतना उदार हो कि सबका शिष्य बनने में उसे संकोच अनुभव न हो।

क्षेमेन्द्र का यह विमर्श बड़ा महत्वपूर्ण है। कला साधकों के लिये इसमें बहुत कुछ प्राप्तव्य है। क्षेमेन्द्र के मत से कलासाधक का व्यक्तित्व यदि उच्च नहीं है तो वह उच्चकोटि की कला का स्रष्टा नहीं बन सकता।

दिनचर्या और स्वभाव के अन्तर्गत हमें आचार्य के व्यक्तित्व की भी झांकी मिलती है। उन्होंने जो स्वयं किया था, उसी का उपदेश दिया है; ऐसा अनुमान होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये सब का शिष्य बन जाने की शिक्षा उन्होंने दी है। उनके काव्यों से यह प्रमाणित होता है कि वे अनेकों को गुरु बना चुके थे। सब देवताओं की समान भाव से स्तुति करने की शिक्षा भी उन्होंने अपने अनुभव से दी है। वे स्वयं शैव थे, पर 'दशावतारचरित' में वैष्णव मत के प्रति तथा 'अवदान कल्पलता' में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास उन्होंने व्यक्त किये हैं।

डा० सूर्यकान्त शास्त्री महोदय का विश्वास है कि इन सौ शिक्षाओं में पूर्वोक्त पांच विकास क्रमों के अनुसार योजना है। पहली से लेकर तेरहवीं पर्यन्त कवित्व प्राप्ति काल की शिक्षायें हैं। इनसे काव्य प्रणयन की मनोवृत्ति बनती है। चौदहवीं से लेकर इकतीसवीं तक की शिक्षायें शिक्षाकाल की अर्थात् दूसरे विकास क्रम की हैं। इनमें चौबीसवीं तक जीवनचर्या तथा शेष में बौद्धिक विकास की शिक्षायें हैं। तीसरी कक्षा चमत्कार प्राप्ति के काल के लिये ३२ से ४३ तक जीवनचर्या तथा ४४ से ५१ तक बौद्धिक शिक्षायें हैं। गुण दोष परिज्ञान के चौथे विकास

क्रम में ५२ से ७४ तक केवल बौद्धिक शिक्षायें ही हैं। अंतिम क्रम परिचय प्राप्ति के समय के लिये ७५ से लेकर १०० तक जीवनचर्या तथा बौद्धिक शिक्षा दोनों का विधान है। समीक्षा की दृष्टि से इस निर्णय को देखें तो निर्दोष नहीं जँचता। दूसरी कक्षा शिक्षा प्राप्ति के लिये १४ से २४ तक जीवनचर्या ही नहीं अभिनय प्रक्षण, लोकाचार परिज्ञान आदि ज्ञानसंवर्धक कार्यों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार तीसरे विकास क्रम परिचय प्राप्ति के लिये ३२ से ४२ तक जीवनचर्या ही नहीं, प्रतिभा, स्मृति, नीड आयतनों का दर्शन आदि बौद्धिक अभ्यास गिनाये गये हैं। अतः उक्त निर्णय निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

चमत्कार योजना—तीसरी विकासकक्षा चमत्कारयोजना की है। इसमें कवि को अपनी रचनाओं में चमत्कार लाने का प्रयत्न करना चाहिये। चमत्कार काव्य का अपरिहार्य सौन्दर्य है। यह दश प्रकार का होता है:—अविचारित रमणीय, विचारितरमणीय, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशव्यापी, शब्दगत, अर्थगत, उभयगत, अलंकारगत, रसगत तथा कथागत। इनमें अविचारित रमणीय चमत्कार पद्य के श्रवणमात्र से ही प्रतीत हो जाता है। विचारित रमणीय अपेक्षाकृत गंभीर होता है वह पद्यार्थ का विचार करने पर प्रतीत होता है। शेष सब का अर्थ स्पष्ट है।

गुणदोष परिज्ञान—चौथे विकास क्रम में गुणदोषों का परिज्ञान अपेक्षित है। क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य में सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते थे। औचित्य के अन्तर्गत गुण और दोष सभी समा जाते हैं अतः आचार्य ने इस प्रसंग को उतना नहीं बढ़ाया जितना दूसरे आचार्यों ने दोषों के अनेक भेद उपभेद दिखाकर तथा शैली की चारुताओं को गुणनाम देकर बढ़ाया है। इनकी दृष्टि में कलुषता एकमात्र दोष है और विमलता गुण है। कलुषता शब्द, अर्थ और रस तीन में संभव है अतः शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य तथा रस कालुष्य तीन काव्य के दोष हैं। इसके विपरीत शब्दविमलता, अर्थविमलता तथा रसविमलता तीन काव्य के गुण हैं।

परिचय प्राप्ति—पाँचवीं अन्तिम विकास कक्षा में कवि को अधिकाधिक वस्तुओं का परिचय प्राप्त करना चाहिये, इसे क्षेमेन्द्र ने 'कवि साम्राज्य व्यंजन' कहा है। परिचय वस्तुओं में कुछ लौकिक

तथा कुछ शास्त्रीय वस्तुयें गिनाकर शेष को प्रकीर्ण कहकर संकेतति किया है। प्रकीर्ण में चित्र, देश, वृक्ष, बनेचर, औदार्य, भक्तिभाव, विवेक, प्रशम आदि का परिचय बताया है। उनका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि कवि का उत्कर्ष उतना ही अधिक बढ़ेगा जितना उसका परिचय अधिक होगा। तर्क, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, चाणक्यनीति, कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, वेदान्त, धातुपरिचय, रत्नपरीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, राज, तुरंग तथा पुरुषों के लक्षण, धूल, इन्द्रजाल तथा प्रकीर्ण में परिचेय वस्तुयें गिना दी गई हैं। हमें ध्यान रखना चाहिये कि सौ शिक्षाओं के अन्तर्गत भी अनेक वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक बताया है। वे कवि बनने के साधन हैं। ये कवि को प्रौढ़ता तथा महिष्ठता प्रदान करती हैं। पहली अनिवार्य हैं। ये अलंकारक तथा उत्कर्ष को बढ़ाने वाली।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने शिक्षा जैसे व्यापक विषय का प्रतिपादन बड़ी योजना, व्यवस्था तथा व्यावहारिकता से किया है। राजशेखर का सा अतिविस्तार, अस्पष्टता एवं किसी एक तथ्य के निर्णय पर न पहुँचने की अव्यावहारिकता इसमें नहीं है। लेखक योग्य अनुभवी अध्यापक की भाँति विद्यार्थी की बुद्धि सीमा को पहचानता हुआ सरल उपायों द्वारा उत्कर्ष की ओर उसे ले जाता है। छायोपजीवन, अर्थ शून्य शब्दों से छन्द पूर्ति आदि की शिक्षा का विधान ग्रन्थ की व्यावहारिकता का परिचय देता है। क्षेमेन्द्र ने सब से अधिक बल शिक्षार्थी के बौद्धिक विकास पर दिया है। पुस्तक में पाण्डित्य प्रदर्शन द्वारा कलेवर वृद्धि न कर इन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता की है। कवि शिक्षा ही विस्तृत शास्त्र बन जाए तो शिक्षार्थी उसी में फँस जायगा। काव्य रचना का उसे अवसर ही न मिलेगा। 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।' इस क्षेत्र में क्षेमेन्द्र पूर्ण सफल सिद्ध होते हैं। क्षेमेन्द्र के बाद भी कुछ आचार्यों ने कवि शिक्षा पर लिखा है। उसका विवरण इस प्रकार है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में प्रसंग से इसका उल्लेख किया है। उसमें नवीनता तो कम है केवल प्राचीन मतों का उद्धरणी है। इनके अनुसार काव्य का हेतु प्रतिभा है। वह सहज तथा अर्जित दो प्रकार की है। आत्मा के मल आवरण के क्षय होने से पहली तथा मंत्रादि की साधना से दूसरी प्राप्ति होती है। प्रतिभा का

संस्कार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा होता है। व्युत्पत्ति का अर्थ है लोक शास्त्र तथा काव्य में निपुणता प्राप्त करना। मर्मज्ञ कवि के निर्देशन में बार-बार रचना करना अभ्यास है। शिक्षार्थी के लिए सूक्ष्म में आवश्यक बातें हैं—सत् को छोड़ देना, असत् का निबंधन करना, नियम का पालन तथा छायोपजीवन। यहाँ सत् का तात्पर्य चमत्कार-हीन वस्तु अर्थात् इतिवृत्त से है। काल्पनिक वस्तु असत् है।

वाग्भट—इनके अनन्तर वाग्भट ने भी अपने 'वाग्भटालंकार' ग्रन्थ में इसका थोड़ा उल्लेख किया है। वे केवल कल्पना को ही काव्य का हेतु मानते हैं। व्युत्पत्ति इसका आभूषण है तथा अभ्यास निपुणता का साधन। इसके बाद उन्होंने कुछ शिक्षायें बताई हैं जो क्षेमेन्द्र के शतक में से ही कुछ एक का परिगणन मात्र है।

अरिसिंह—राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र के बाद इस पर पूरा ग्रन्थ लिखने वाले अरिसिंह हैं। उन्होंने 'काव्य कल्पलता' नामक ग्रन्थ इस पर प्रणीत किया है। अमरचन्द ने इसी पर 'वृत्ति' नाम से टीका लिखी है। पुस्तक चार प्रतानों में विभक्त है। वितान स्तबकों में बटे हुये हैं। पहले प्रतान में छन्द, दूसरे में शब्द, तीसरे में श्लेष, चित्र अलंकार तथा चौथे में उपमा रूपक आदि अलंकार वर्णित हैं। अन्त में रचनाभ्यास के कुछ उपाय भी बताये गए हैं। पर वे मौलिक नहीं हैं। पुस्तक में अनावश्यक विस्तार, आवृत्ति, परिगणन आदि के दोष हैं। मौलिकता का अभाव है। लेखक परिश्रमी अवश्य है। उसने शिक्षार्थियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दसमूह एकत्र किये हैं।

केशव और देवेश्वर—इस विषय के अन्तिम लेखक केशव तथा देवेश्वर हैं जिन्होंने क्रमशः 'अलंकार शेखर' तथा 'कवि कल्पलता' पुस्तकें कवि शिक्षा पर लिखी हैं। पुस्तकें अरिसिंह तथा अमरचन्द का अनुकरण मात्र हैं।

समाहार—यह संस्कृत साहित्य की कवि शिक्षा के क्रमिक विकास का सूक्ष्म चित्र है। समूहालंबनात्मक दृष्टि से इसे देखें तो राजशेखर और क्षेमेन्द्र दो आचार्य इस विषय में प्रमुख प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी अपनी पद्धति से विस्तार पूर्वक विषय का स्वतन्त्र प्रतिपादन किया है। राजशेखर की विद्वत्ता, बहुज्ञता एवं विशालता पाठक को विस्मित करती है। क्षेमेन्द्र की व्यवस्थित योजना, अनुभव

और निर्भ्रान्त निर्णय हमें मुग्ध बनाते हैं। राजशेखर महान् हैं, क्षेमेन्द्र व्यावहारिक। राजशेखर के विषयावगम में प्रांजलता तथा व्यवस्था का अभाव है। क्षेमेन्द्र में ये दोनों गुण बहुत बढ़े चढ़े हैं।

अन्त में एक प्रश्न उठता है। इस प्रकार की कवि शिक्षा से कवि के निर्माण में कितना उपकार होता है? प्रश्न को यों समझना चाहिये। काव्य का मूलहेतु प्रतिभा है। वह जन्म जात सहज होती है यह सभी मानते हैं। फिर शिक्षा इसका क्या उपकार करेगी? कवियों का इतिहास इसकी अपार्थकता सिद्ध करता है। वाल्मीकि, व्यास आदि के जीवन में इस प्रकार का मार्ग प्रदर्शन कुछ था इसमें कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी वे कवि ही क्यों कवियों के उपजीव्य बने फिर क्या यह सब वाणी का विग्लापन मात्र है या किसी आवश्यकता की पूर्ति है? उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि जिनमें जन्मजात प्रतिभा है उनके लिये इसका उपकार केवल संस्कार मात्र का है। कला का परिष्कार कुछ नियमों के आधार पर ही हो सकता है। पर यह सब का विचार नहीं। कभी कभी परम्पराओं का ज्ञान स्वच्छन्द प्रतिभा की निःसीम उड़ान को सीमित भी कर सकता है। इतना तो मानना ही चाहिये कि इन सबके अध्ययन से कवि चेतन हो जाता है और भावमग्न हृदय की जो उपचेतनावस्था होती है, जिसमें श्रेष्ठ काव्य का जन्म होता है, वह उसके हाथ में नहीं रहती। अतः यही कहना चाहिये कि सहज प्रतिभा के लिए कवि शिक्षा कोई उपकार नहीं करती। मरियल बैलों के लिए लीक चाहिये। जानदार बछड़े तो अपनी लीक आप बनाते हैं। शायर तो बेलीक ही अच्छा।

पर जो बीच के लोग हैं उनके लिए इसकी सहायता कम महत्व की नहीं। शिक्षण यदि सधे हुये गुरुओं द्वारा हो तो काव्य रचना में रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। जिनकी रुचि हो उन्हें सूक्ष्म बनाने में तो इस पद्धति से संतोषजनक सहायता मिलती है। प्रतिभा वाले कवियों की रचनाओं में भाव की मार्मिकता तथा अनुभूति की व्यापक गंभीरता रहती है। शिक्षा प्राप्त कवियों की कृतियों में कल्पना का चमत्कार, शैली का सजाव और 'पौलिश' आदि खूब रहती है। हिन्दी में कबीर, नानक, दादू, मीरा आदि केवल प्रतिभा के कवि हैं। तुलसी, बिहारी आदि

संस्कार प्राप्त प्रतिभा के। केशव अभ्यासजन्य निपुणता के कवि हैं। उनका निर्माण कविशिक्षा से हुआ प्रतीत होता है। इन सब के कृतित्व का मूल्यांकन किया जाय तो मानना पड़ेगा कि ये दूसरी कोटि के कवि-नक्षत्रों की भी साहित्याकाश में कम चमक नहीं रही। सरस्वती की सेवा भी उनकी उपेक्षणीय नहीं मानी जा सकती' अभ्यास प्रसूत कृतियों में कल्पना का चमत्कार इतना अभ्रंकष होता है कि वह मौलिकता की रेखा छू लेता है। श्री हर्ष का 'नैषधीयचरित' इसी प्रकार का काव्य है। वह संस्कृत काव्यों की प्रसिद्ध बृहत्त्रयी में से एक है। हेमचन्द्र तो प्रतिभा के दो भेद मानते हैं, सहजा तथा औपाधिकी। औपाधिकी प्रतिभा अभ्यासजन्य निपुणता है जो प्रतिमा के समकक्ष हो हो जाती है। मौलिक प्रतिभा के कृती कवियों को यही चाहिये कि वे इस सीमा बंधन में न बँधें। भौंरे के पंख मधु में भीग कर अपनी उड़ान की क्षमता खो बैठते हैं।

देन

संस्कृत साहित्य में क्षेमेन्द्र का अपना स्थान है जिसका महत्व किसी से कम नहीं। वे कवि, नाटककार, रीतिकार, कोषकार तथा इतिहासकार हैं। इनकी कृतियों में काव्य, महाकाव्य, समीक्षाग्रन्थ, छंदशास्त्र के ग्रन्थ, नाटक, उपदेश प्रधान रचनायें, तथा महाकाव्य एवं इतिहास काव्यों के सूक्ष्म रूपान्तर सभी प्रकार की रचनायें विद्यमान हैं। इन रचनाओं के रूप भी विविध हैं और विषय भी। क्षेमेन्द्र ने अपने काव्य की परिधि में जितने विस्तृत जीवनक्षेत्र को समेटा है, उतना अन्य किसी ने भी नहीं। संस्कृत साहित्य में भोज और हेमचन्द दो कलाकार इस श्रेणी में आते हैं। पर वे न इतने विस्तृत ही हैं जितने कि क्षेमेन्द्र और न मौलिक तथा गंभीर ही। इसलिए जिस दृष्टि से इनका मूल्यांकन होना चाहिये उस दृष्टि से ये सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं।

इनके काव्यों को तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। महाकाव्यों के सूक्ष्मरूपान्तर, उपदेश प्रधान रचनाए और महाकाव्य। इनमें से सूक्ष्म रूपान्तरों में काव्यतत्व नहीं के बराबर है; हो भी नहीं सकता। वहाँ कवि की प्रतिभा विस्तृत वस्तु को सूक्ष्म बनाने में व्यस्त रहती है। पर क्षेमेन्द्र ने जो कुछ किया है वह कम नहीं है। 'रामायण', 'महाभारत', 'बृहत्कथा' जैसे समुद्रकल्प ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए सुपार सरिता बन गए। यह साधारण कार्य नहीं है।

उपदेश प्रधान रचनाओं के फिर दो उपविभाग हैं। साक्षात उपदेश प्रदान करने वाली और व्यंग्य द्वारा उपदेश देनेवाली। 'चारुचर्या', 'सेव्यसेवकोपदेश' तथा 'चतुर्वर्गसंग्रह' पहली श्रेणी में हैं। इनमें कहावतें तथा उपदेश दोनों को साथ साथ जोड़ देने से उनका प्रभाव द्विगुणित हो गया है। जन साधारण को उससे सुधरने का पर्याप्त लाभ होता है।

व्यंगप्रधान रचनायें हैं—'देशोपदेश', 'नर्ममाला', 'दर्पदलन', 'समयमातृका' और 'कलाविलास'। इनमें व्यंग के लक्ष्य बने हैं—धूर्त, कृपण, दर्बारी लोग, दूतियाँ, विट, विद्यार्थी, कायस्थ, वृद्धवर, वेश्यायें, साधु संन्यासी, नौसिखिये डाक्टर और ज्योतिषी, गवैये, सुनार, व्यापारी आदि आदि।

इनकी दुर्बलताओं को क्षेमेन्द्र ने बड़े निकट से देखा है और उन्हें प्रकट करने के लिए ऐसी चुटकियाँ ली हैं जो निर्दय भी हैं और मीठी भी। समाज की ऐसी दुर्बलतायें दूर न की जायें तो विष बढ़ने और समूचे समाज के दूषित होने की आशंका रहती है। इसलिये क्षेमेन्द्र इनसे बचने के लिए तथा अन्त में इनकी समाप्ति के लिए व्यंग-प्रक्षेपों का सहारा लेते हैं। स्वभाव से मनुष्य सामाजिक मान का भूखा रहता है। व्यंग उसकी इस कोमलता पर तीखा प्रहार करता है जिससे तिलमिलाकर वह दुर्बलताओं को त्यागने तथा मानपूर्ण जीवन बिताने के लिए बद्धपरिकर हो जाता है। इनसे उदासीन व्यक्ति की इन दुबलताओं के प्रति हीन भावना तथा अपने प्रति गौरव की भावना जाग्रत होती है। फलतः साधारण लोग भी इस जाल में फँसने से बच जाते हैं। इसलिए मनीषियों का विचार है कि व्यंग-विधान समाज सुधार का श्रेष्ठ साधन है जिसे एक साहित्यिक कर सकता है। इसके साथ-साथ यदि कुछ रचनात्मक विचार भी उपस्थित किये जायँ तो फिर सुवर्ण में सुगन्धि हो जाती है। क्षेमेन्द्र व्यंग योजना तो सफलता से करते ही है; साथ-साथ रचनात्मक विचार भी व्यक्त करते हैं। 'कला विलास' में उन्होंने ऐसा ही किया है। विविध व्यवसायों के कपट पूर्ण व्यवहारों का खुला वर्णन कर उनकी हँसी उड़ाई है और अन्त में युवकों के लिए निष्पाप आजीविका का उपदेश दिया है। इनके व्यंग्य न तो इतने तीक्ष्ण हैं कि असह्य हो उठें और कवि को एकांगी प्रमाणित करदें और न इतने कोमल ही हैं कि वे उपेक्षणीय हो जायँ। उनमें सामंजस्य है और रचनात्मकता है। इस प्रकार व्यंग्यकार के रूप में क्षेमेन्द्र संस्कृत साहित्य में मूर्धन्य हैं।

इसके बाद इनका रीतिकार का रूप भी सूक्ष्मतः विचार लिया जाय। इनके अन्तर्गत तीन पुस्तकें आती हैं, 'कविकण्ठाभरण', 'औचित्य विचार चर्चा' और 'सुवृत्त तिलक'। तीनों ही कृतियों का अपने-अपने क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व है। इनके ऊपर क्षेमेन्द्र ने संस्कृत साहित्य को आढ्य बनाया है। नवीन मार्ग की खोजकर उसे पूर्ण प्रतिष्ठा दी है।

'कविकण्ठाभरण' कवि शिक्षा पर लिखा हुआ छोटा ग्रन्थ है। इस की योजना में कवि ने स्वोपज्ञ मार्ग अपनाया है। परम्परा का पालन नहीं किया। बुभुत्सु कवियों के लिए चमत्कार तत्त्व को अनिवार्य रूप से आवश्यक माना है। इसमें वे व्यावहारिक प्रतीत होते हैं।

कवि शिक्षा का प्रकार भी उनका मौलिक है। वह राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' से इस अर्थ में बहुत आगे है कि यह व्यावहारिक है; सर्व साधारण के लिए सुगम है। 'काव्य मीमांसा' पाडित्यपूर्ण ढंग से लिखी हुई आदर्शमय रचना है जो सिद्धहस्त कवियों को भी भ्रम में डालने वाली है। क्षेमेन्द्र ने कविता बनाने का मार्ग सुगम और सरल बनाया है। इस दिशा में और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने किया है वह है कवि बनने वालों की मानसिक एवं शारीरिक शिक्षा का। उनका कहना है कि रचना की शिक्षा के समान ही कवि की बुद्धि का शिक्षण भी आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में वे शारीरिक स्वास्थ्य का भी विचार किये बिना नहीं रहते। शरीर और बुद्धि के अभेद्य सम्बन्ध को मानकर क्षेमेन्द्र ने कितनी अभिनव मान्यता प्रकट की है ? इस सम्बन्ध में निराला जी का यह कहना याद आता है कि दण्ड लगाकर बादाम पिये बिना कवि नहीं बना जाता।

औचित्य विचार चर्चा में जो समीक्षा मार्ग इन्होंने दिखाया है वह सर्वथा नवान तो नहीं है, पर व्यापक तथा गम्भीर बहुत है। इसकी प्रासंगिक चर्चा तो दण्डी, आनन्दवर्धन आदि ने की है पर उसे समीक्षा क्षेत्र में जो स्थान मिलना चाहिए वह नहीं दिया गया था। गुणदोष के प्रसंग में आचार्य लोग औचित्य का स्मरण करते थे। दण्डी की अपेक्षा आनन्दवर्धन ने औचित्य पर अधिक बल दिया है पर उनके विचार से भी वह ध्वनि का गौण अङ्ग है। काव्य का आत्मतत्त्व तो किसी के मत से अलंकार, किसी के मत से रीति, दूसरे की दृष्टि में रस और तीसरे के सिद्धान्त में ध्वनि हैं। क्षेमेन्द्र ने इन सब विचारों को एक ओर रखकर औचित्य को रसादि का मूलतत्त्व सिद्ध किया है। उनके विचार से काव्य की आत्मा औचित्य है और वह भी इसलिए कि औचित्य के बिना रस, अलंकार, ध्वनि आदि अकिंचित्कर हैं। वे काव्य के विधायक तत्त्व नहीं हो सकते। इन सब के प्रयोग में औचित्य है तो वे अपना अभीष्ट प्रभाव डालते हैं अन्यथा नहीं। फलतः यही सिद्ध होता है कि जिन्हें काव्य का मूल समझा जाता है उनका भी मूल औचित्य है। इस विचार से क्षेमेन्द्र बड़े विवेकी सिद्ध होते हैं कि उन्होंने रसादि के महत्त्व का खण्डन नहीं किया। उनके साथ औचित्य को अनुस्यूत किया है। उनकी प्रतिभा स्वीकारिणी है तिरस्कारिणी नहीं।

औचित्य सिद्धान्त में औरों की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मकता है। वह रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, दोष आदि से भिन्न है और साधारण बुद्धि गम्य है। क्योंकि औचित्य का आधार जीवन का स्थूल दैनिक रूप है। जीवन में सबकी दृष्टि से जो उचित है वही काव्य में भी उचित है। फिर किसी पद्य में एक की दृष्टि से काव्यत्व अथवा रस, ध्वनि आदि है और दूसरे की दृष्टि से नहीं है, इस दुविधा के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। संस्कृत के समीक्षा ग्रन्थों में अनेक ऐसे स्थल पाये जाते हैं जहाँ एक आचार्य के अनुसार काव्यत्व है और दूसरे की दृष्टि से उसका अभाव। औचित्य सिद्धान्त के अनुसार काव्य समीक्षा की जाय तो इस प्रकार की संदिग्धता और अनिश्चितता नहीं रह जाती।

समीक्षा मार्ग में विषयापेक्षता का अंश जितना अधिक होगा उतनी ही कला लोकजीवन के निकट आ जाती है। वस्तुजगत जो हमारी ज्ञान की परिधि में रहता है, उसके आधार पर कला का मूल्यांकन होने लगता है और वह जन साधारण की पहुँच के अन्तर्गत हो जाती है। यह कला के प्रसार और परिष्कार दोनों के लिए ही लाभदायक है। औचित्य मार्ग में यह बात विद्यमान है। उसका आधार जीवन है। इस मत में साहित्य जीवन से ऊपर किसी दूसरे लोक की रचना नहीं। इसी से उत्पन्न विचार सृष्टि है। रसादि सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अवसर पर जो जहाँ तहाँ 'सहृदयैकसंवेद्यता' का पुट लगा मिलता है उसकी यहाँ आवश्यकता नहीं पड़ती। वास्तव में इस 'सहृदयैकसंवेद्यता' की दुहाई लग जाने पर कला समीक्षक का विवेक हारकर बैठ जाता है। आगे बढ़ने के उसके सब रास्ते बंद हो जाते हैं। फिर कला के नियंत्रण का अंकुश हट जाता है। वह स्वच्छन्द क्या स्वैरिणी हो जाती है। समीक्षाशास्त्र अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के अति शृंगार परक रूप की ओर जो उंगली न उठा सका उनका कारण समूह कुछ ऐसा ही था। कोई कुछ कहता तो असहृदय बनाकर साहित्य की मैफिल से बाहर निकाल दिया जाता। औचित्य को कला समीक्षण का आधार मान लेने पर इस प्रकार की कुज्झटिका हट जाती है।

रस अलंकार आदि के अनुयायी कवियों में जो प्रायशः अतिगामिता दिखाई पड़ती है उसमें औचित्य पर दृष्टि का न रहना

ही कारण है। बाण की रसैकपरकता, माघ की अलंकारैकलक्ष्यता इसमें प्रमाण हैं। हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के अलंकारवादी केशव तथा ध्वनिमार्गी विहारी इसी श्रेणी के साहित्यकार हैं। इनमें कोई रस को ही तथा कोई अलंकार को ही कविता का सर्वस्व मानकर रचना करते हैं। इसलिए रसवादी के काव्य में रस की मात्रा अति तक पहुँच जाती है और दूसरे तत्व अलंकार, भाषा, आदि उपेक्षित रह जाते हैं। वास्तव में जिस प्रकार सामंजस्य जीवन को सुस्थिर एवं सुबस बनाता है उसी प्रकार काव्य को भी। सामजस्य औचित्य का दूसरा नाम है। आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को महत्व देने में इसी प्रकार की धारणा रखते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने मत की प्रतिष्ठा मतान्तरों के खंडन से नहीं की। वे समझते थे कि काव्य की शरीर पुष्टि इन सभी से होती है। हां, यह अत्यंत अपेक्षित है कि संघटन में जिस तत्व की जितनी और जहाँ पर आवश्यकता है वह उतना ही और वहीं पर प्रयुक्त हो। इस औचित्य की रक्षा सदा होनी चाहिए। यही उस शरीर के संधारण का एकमात्र आधार है। जिस प्रकार आयुर्वेद के अनुसार बात, पित्त, कफ के सामंजस्य से संघटित हुए शरीर मं यदि किसी एक तत्व की अति वृद्धि हो जाय तथा शेष दो का ह्रास हो जाय तो शरीर ही का ह्रास या विनाश हो जाता है। इसी प्रकार औचित्य मार्ग के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य के अभाव में रस, अलंकार सब कुछ के रहने पर भी काव्यत्व का अभाव समझते हैं।

काव्य में गुण दोष की समस्या भी केवल औचित्य के आधार पर सुलझती है। जो उचित है वह गुण है, जो अनुचित है वह दोष है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि औचित्य का अन्तर्भाव गुण दोष में हो जाता है। औचित्य इससे पृथक् स्वतंत्र तत्व है। समीक्षकों ने गुण दोष की पहले पहल कल्पना की तो वे अलंकार आदि की भाँति स्वतंत्र माने गए। पर बाद में जब यह अनुभव हुआ कि गुणत्व या दोषत्व कोई स्थिर स्वभाव के गुण नहीं हैं। जो एकत्र गुण है वही अपरत्र दोष बन जाता है इसी प्रकार दोष गुण बन जाता है तो फिर उनमें नित्यानित्य की व्यवस्था माननी पड़ी। उसमें भी इदमित्थं कुछ नहीं कहा जा सकता। इसीलिए भोज की तो मान्यता यही है कि सब दोष उचित प्रयुक्त हों तो गुण बन जावे

हैं। उदाहरण के लिए च्युतसंस्कृति नित्य दोष है। पर भट्टीकार ने सीता वियोग में विक्लवचेता राम के मुख मे व्याकरण च्युत शब्दों का प्रयोग कराकर ही उनकी विक्षिप्तावस्था की व्यंजना की है। इस तरह कहा जा सकता है कि गुण दोष व्यवस्था के मूल में एक मात्र निर्णायक तत्व औचित्य ही है और वह इतना व्यापक तथा गंभीर है कि उसके मान लेने पर इनकी संख्या बढ़ाने तथा विभाग उपविभाग करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

फलतः कह सकते हैं कि समीक्षा क्षेत्र में क्षेमेन्द्र ने बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। समीक्षकों की आदर्शमात्र गामिनी दृष्टि को व्यावहारिकता प्रदान की है, उसे समन्वय तथा सामंजस्य की ओर प्रेरित किया है। वे काव्य और जीवन को एक दूसरे के निकट लाये हैं। समीक्षा जैसे व्यक्तिपरक शास्त्र में विषयापेक्षता का पुट लगा कर उसे जीवन दिया है।

काव्य के मूल्यांकन में औचित्य का जो महत्त्व इन्होंने समझा था उसे दूसरे आचार्य अनुभव न कर सके। उनकी दृष्टि उन्हीं पुराने मार्गों के महत्त्व में फिर भ्रान्त हो गई। इसलिए यह तत्त्व उन्होंने गुण दोष में अन्तर्भूत मान लिया। वास्तव में उससे कहीं व्यापक और कहीं गम्भीर यह पृथक गुण था। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी इसकी चर्चा मात्र की थी। इसकी विशद व्याख्या में यदि वे अन्य मतों का खंडन करते हुए पाण्डित्य पूर्ण ढंग से विशाल ग्रन्थ लिखते तो संभवतः अर्वाचीन लोग इनके अनुवर्तक बनते और भारतीय समीक्षा का मार्ग बहुत परिवर्तित हो जाता। काव्य कला आदर्श के दिव्य लोक से उतर कर यथार्थ जीवन के भूलोक में आ जाती। फिर भी क्षेमेन्द्र ने औचित्य की इस प्रकार व्याख्या की है कि काव्य के सभी तत्त्व गुण, दोष, अलंकार, ध्वनि, रस, वक्रता, शब्द, अर्थ आदि उसमें समाते हैं।

पाश्चात्य समीक्षाओं में जैसे कला कृतियों पर सर्वांगीण विचार करने की पद्धति है वैसी भारतीय समीक्षाओं में नहीं है। वे काव्य को खंडशः पकड़ती है। एक विशेष दृष्टि से कृतियों की समीक्षा की जाती है। अलंकारवादी चमत्कार तत्त्व पर विशेष दृष्टि रखता है। उसी भाव से काव्य जगती में प्रवेश करता है। इसी

प्रकार रसवादी, ध्वनिवादी आदि हैं। इनकी पहुँच चरित्र-चित्रण आदि तक नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य का स्वरूप इन सबसे बहुत अधिक है।

क्षेमेन्द्र ने दृष्टव्यता की एक कसौटी स्थिर की है। उस पर काव्य ही नहीं सब प्रकार की कलाओं को कसा जा सकता है। उसकी तह में यह मान्यता छिपी है कि काव्य या अन्य कोई कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसके परखने का मानदण्ड जीवन से लेना चाहिये। कला कला के लिए नहीं, जीवन के लिए है, जीवन से प्रसूत है और जीवन द्वारा ही परीक्षणीय है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र का कृतित्व बहुत बढ़ जाता है। उन्होंने समीक्षा की नई रेखायें खींची हैं।

क्षेमेन्द्र ने साहित्य की अनेक दिशाओं में कार्य किया है।

१—उन्होंने इतिहास दिशा में भी कार्य किया था। कल्हण ने सूचना दी है कि उन्होंने राजाओं की सूची, 'नृपावली' पुस्तक लिखी थी।

२—दामोदर गुप्त की परम्परा में व्यंग्य काव्य (Satirical poetry) की दिशा में भी क्षेमेन्द्र स्मरणीय है। उन्होंने अपनी 'कला विलास' रचना में विभिन्न व्यवसायों के कपट पूर्ण व्यवहारों पर व्यंग्य कसे हैं।

३—इन्होंने स्वतन्त्र काव्य, नाटक, वर्णनात्मक काव्य, नीति उपदेश प्रधान रचनायें, व्यंग्य काव्य, अलंकार शास्त्र, छन्द शास्त्र, काम शास्त्र तथा रामायण महाभारत बृहत् कथा, बौद्धावदान, वाणकृत कादम्बरी तथा वात्स्यायनकृत काम शास्त्र के सूक्ष्म रूप पद्य में किये हैं इनके अतिरिक्त संस्कृत का स्यात दूसरा कोई अन्य कवि फुटकल काव्य का इतना बड़ा प्रणेता नहीं हुआ। वे बहुज्ञ, परिष्कृत तथा नियमित है। ज्ञान की विविधता और बहुज्ञता ने इनकी शैली में लौकिक सजीवना ला दी है। इनकी मौलिकता के दर्शन उन बड़ी-बड़ी रचनाओं में नहीं दिखाई देते जिनमें कवि ने परिश्रम किया है; बल्कि छोटी छोटी सहज रूप से लिखी कृतियों में कवि का श्रेष्ठ रूप व्यक्त हुआ है। कवि प्रकृत्या लौकिक है। लोक को काव्य में उतारने की प्रज्ञा उसमें है। 'समय मातृका' में कुरूप प्रेमियों पर व्यंग्य कसने, वेश्या के कपट पूर्ण व्यवहारों का खाका खींचने, वैश्या जीवन का यथार्थ रूप दिखाने में कवि पूर्णतः सफल है। अनेक अर्थों में वह

भौतिक है। इनकी शैली में तीक्ष्णता, व्यंग्य प्रधानता एवं अव्यता है। हास्यव्यंजक दृश्य घटनाओं एवं व्यक्तियों के वर्णन के लिए इनकी प्रतिभा अत्यन्त सक्षम है।

लोक व्यवहार में निपुणता तथा सफलता प्राप्त करने की दिशा में भी कवि की बहुज्ञता ने कार्य किया है। 'सेव्यसेवकोपदेश', 'चरुचर्या' 'चतुर्वर्गसंग्रह' तीन रचनायें इसी दिशा के प्रयत्न हैं। इनमें कवि का लोक जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण अत्यंत प्रशंसनीय है।

मानव की दुर्बलताओं को कवि ने व्यंग्य का विषय बनाया है। 'दर्प दलन' रचना में उन्होंने मनुष्य के दर्प पर व्यंग्य कसे हैं। दर्प की उत्पत्ति जन्म, धन, विद्या सौन्दर्य, वीरत्व दान और तप आदि से होती है। पर ये सभी विषय विवेकी के लिए उपहसनीय हैं। 'कला विलास' मेंवैद्य, वेश्य, व्यापारी, सुनार, गवैया, शेखीखोर, भिखारी, साधु आदि के दाम्भिक जीवन पर व्यग्य के छींटे छोड़े हैं।

'देशोपदेश' तथा 'नाम माला' में भी काश्मीर के देशीय जीवन का, वहाँ के अत्याचार, दाम्भिक व्यवहार और व्यभिचार का चित्रण है। देशोपदेश रचना में हवा में किले बनाने वाले खल, दीनमलिन लालची कृपण, दूसरों के हाथों में गुड़िया की भाँति खेलने वाली बुद्धिशून्य वेश्या, सर्पिणी तुल्य कुटिल कुट्टनी, भड़कीले वेश में बन्दर सा प्रतीत होने वाला विट, दुर्बल बंगाली बाबू जो काश्मीर की जलवायु के प्रभाव से दुःसाहसी बन गया है, नव विवाहित वृद्ध पुरुष, पतितशैव, धूर्त कायस्थ और उसकी चंचल चित्त पत्नी, चालाक व्यापारी, शेखीखोर रसायनिक, मिथ्या तपस्वी, अहंकारी वैयाकरण आदि के हृदयग्राही रेखाचित्र दिये गये हैं। 'नाम माला' में भी उसी प्रकार विविध रेखाचित्र दिये हैं पर इसमें काश्मीर में कायस्थों के द्वारा राज्य में फैलाये व्यभिचार का वर्णन विशेष हुआ है। एक ही कायस्थ अपनी चालाकी के बल से गृह कृत्याधिपति, परिपालक (प्रान्त का शासक) लेखोपाध्याय, गंजदिविर (Chief Accountant) तथा नियोगी आदि बन बैठा है। इन रचनाओं में एक ओर काश्मीर के स्थानीय जीवन का चित्रण है दूसरी ओर जीवन के साधारण रूप के दंभ का भी उद्घाटन किया है। यहाँ भी कवि के व्यंग्य कसने का गुण प्रमुख प्रतीत होता है।

समाज के दैनिक जीवन का चित्रण जल्हण (१२वीं शती) ने अपने 'मुग्धोपदेश' ग्रन्थ में किया है। पर वहाँ कवि गंभीर और नैतिक बना रहता है। विषय के उचित निम्न स्तर पर उतर कर उसका यथार्थ चित्रण नहीं करता। इसी प्रकार का दूसरा प्रयास दाक्षिणात्य कवि नीलकंठ दीक्षित का 'कलि विडम्बना' है। इसमें भी शिष्टता एवं नैतिकता पर विशेष दृष्टि है। प्रतिपाद्य का यथार्थ चित्रण नहीं हुआ। इसमें सफलता जितनी क्षेमेन्द्र को मिली है उतनी अन्य किसी को नहीं।

छंद विचार

छन्दों का विवेचन करने के लिये क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त-तिलक' ग्रन्थ की रचना की है। इसका महत्व पहचानने के लिये यह आवश्यक है कि इस विषय का इतिहास सूक्ष्म रूप से देख लिया जाय।

इतिहास

साहित्य के अन्य विषयों की भाँति छन्दों पर भी संस्कृत में बड़ा विस्तृत विचार हुआ है। संस्कृत साहित्य में छन्दों की संख्या संभवतः संसार के सभी साहित्यों की अपेक्षा अधिक है। उनके स्वरूप का विवेचन भी बड़ी व्यवस्था के साथ किया गया है। साधारणतया छन्दों के दो भेद हैं—मात्रिक और वर्णिक। मात्रिक छन्दों के आकार की गणना उसके अक्षरों से, जिसे मात्रा कहा जाता है, की जाती है। मात्रा उच्चारण की उस ध्वनि का नाम है जिसमें एक स्वर हो और जो एक झटके में बोली जाती है। व्यंजनों की इसमें गणना नहीं की जाती। ह्रस्व स्वर की एक मात्रा और दीर्घ की दो मात्रायें मानी जाती हैं। इस प्रकार 'काम' शब्द तीन मात्राओं का माना जायगा। अंतर इन छन्दों का यह है कि यहाँ लघु गुरु ध्वनियों के विन्यास का कोई नियम नहीं होता। केवल मात्राओं की गणना होती है वर्णिक छन्दों में लघु गुरु वर्णों के यथा स्थान विन्यास का नियम रहता है। वर्ण भी मात्रा के समान एक स्वर या व्यंजन सहित स्वर को कहते है। छांदिक लोगों ने वर्णों की गणना के लिये गणों की सूत्रात्मक पद्धति बनाकर बड़ी सुविधा कर ली है। तीन वर्णों का एक गण होता है और वे लघु गुरु के विपर्यय से ८ हैं। उदाहरण के लिये 'कुमारी' शब्द आदि में लघु तथा दो गुरु वर्णों का यगणात्मक ध्वनि-समूह है। मात्रिक छन्दों की अपेक्षा वर्णिक छन्दों की संख्या तथा प्रयोग संस्कृत में अधिक हुए हैं।

संस्कृत छन्दों में मात्रा या वर्ण एक से लेकर छब्बीस तक एक पद में होते हैं। एक छन्द में प्रायः चार पद रहते हैं। वे परस्पर में समान भी होते हैं और भिन्न भी। कहीं कहीं पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे आपस में समान हो जाते हैं। इस प्रकार छन्द क्रमशः सम, विषम, एवं अर्द्धसम होते हैं।

छन्द का जन्म तो साहित्य के साथ ही साथ हो जाता है। हमारे देश के साहित्य में उस पर शास्त्रीय विचार भी वैदिक-काल में ही प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्म , श्रौतसूत्र तथा अनुक्रमणी ग्रन्थों में छन्द विचार के पूरे पूरे अध्याय मिलते हैं। छन्द को वेदांग माना जाता है, वे उसके पाद है। 'छद: पादौ तु वेदस्य।' इसके लिये पहले पिंगल का 'छन्द-सूत्र' प्रसिद्ध था। पिंगल ऋषि माने जाते हैं और 'छन्द-सूत्र' श्रौत एव गृह्यसूत्रों का समसामयिक समझा जाता है। कुछ लोग महर्षि पतंजलि को भी पिंगल बताते हैं पर यह निःसन्दिग्ध नहीं है। भरत ने प्रसंगतः छन्दों के महत्व का उल्लेख किया है। उनके विचार से सारा वाङ्मय छन्द है, 'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।'

पिंगल

महर्षि पिंगल संस्कृत के छन्द शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ 'छन्दः सूत्रम्' अपने विषय को पूर्ण और प्रौढ़ रचना है। वह अपने से पूर्व के दीर्घ कालीन विकास की सूचना देती है। यह कहने को तो वेदांग है पर इसमें विवेचन लौकिक छन्दों का ही है। ऐसे छन्दों का भी उल्लेख इसमें किया गया है जो संस्कृत साहित्य की उपलब्ध राशि में कहीं प्रयोग में नहीं आते ? संभवतः वे उस समय जनपद साहित्य के छन्द रहे हों।

भरत

महर्षि पिंगल के बाद आचार्य भरत आते हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में (अध्याय १४–१५) छन्दों का विचार किया है। वहाँ लौकिक और वैदिक दो प्रकार के छन्दों का उल्लेख हुआ है। छन्दों की संख्या ६८ है। आर्या छन्द पाँच प्रकार का माना है। भरत का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी माना जाता है।

बाराह मिहिर

बाराह मिहिर ज्योतिष के आचार्य थे। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहत्संहिता इसी विषय की रचना है। पर उसके १०४ वें अध्याय में प्रसंगवश ६२ छन्दों का उल्लेख हुआ है। बाराह मिहिर ईसा की छठी शताब्दी के विद्वान हैं।

अग्नि पुराण

इसके अनन्तर छन्दों का उल्लेख ७ वीं शताब्दी के अग्नि-पुराण में हुआ है ३२८ से लेकर ३३५ तक ८ अध्यायों में पुराणकार ने छन्दों का विवेचन किया है, इसमें छन्दों का विभाजन, क्रम, तथा प्रतिपादन की शैली सब 'छन्द-सूत्र' के अनुसार हैं।

श्रुतबोध

श्रुतबोध इस विषय की छोटी पर महत्वपूर्ण रचना है। इसके रचयिता महाकवि कालिदास माने जाते हैं। किंवदन्त है कि उन्होंने अपनी पत्नी लीलावती को छन्दों का ज्ञान कराने के लिये यह पुस्तिका लिखी थी। इस कल्पना का आधार पुस्तक की सरस शृंगार प्रधान शैली तथा बार बार प्रियतमा के लिये कहे गये प्रेमप्रवण संबोधन हैं। लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में आ जाते हैं क्योंकि जिस छन्द का लक्षण किया जाता है वह उसी छन्द में होता है। यति के विषय में ग्रन्थकार विशेष सावधान है। रचना बड़ी विशद एवं सरस शैली में लिखी गई है। वह शास्त्र होते हुए भी काव्य है। क्षेमेन्द्र के शास्त्र काव्य का यह ठीक उदाहरण है।

क्षेमेन्द्र

इसके बाद आचार्य क्षेमेन्द्र आते हैं। उनकी रचना 'सुवृत्त तिलक' आकार में बहुत बड़ी नहीं है। इसमें कुल १२४ कारिकायें हैं जो तीन विन्यासों में विभक्त हैं। इन्हीं में छंदों का स्वरूप परिचय, गुण दोष विवेचन तथा प्रयोग का विचार किया गया है। लेकिन छंदों की जिन समस्याओं को इसमें उठाया गया है और उन पर जिस ढंग से विचारणा हुई है वह सब बड़े महत्व का है। पहले आचार्यों ने छंद विचार करते समय उनके लक्षण और उदाहरण ही दिखाये हैं। यह प्रतिपादन रूक्ष भी है और स्थूल भी। क्षेमेन्द्र का विचार बड़ा सूक्ष्म और भावुकता पूर्ण है। उन्होंने छंदों के गुण दोष तथा प्रयोग-विधि पर भी बड़ा विशद विचार उपस्थित किया है। छंद विमर्श की यह नई दिशा उन्होंने खोली है। क्षेमेन्द्र की सर्वतोमुखी व्यावहारिक प्रतिभा ही इसे पहचान सकी तथा इस पर चिन्तन उपस्थित कर सकी। उनसे बाद के आचार्य इनके मार्ग पर चलने तक का साहस न प्राप्त कर सके। इतनी सूक्ष्मता इस में है।

ग्रंथ की योजना इस प्रकार है। इसमें कुल तीन विन्यास हैं। पहले विन्यास में २७ छंदों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। केवल एक को छोड़कर सभी उदाहरण कवि के अपने हैं। छन्दों का चुनाव व्यावहारिक दृष्टि से हुआ है। जिनका कवि लोग प्रायः प्रयोग करते हैं उन्हीं पर विचार हुआ है। इनमें ६ अक्षरों वाले छन्दों से लेकर २१ अक्षरों के छन्दों तक का उल्लेख है। प्रथम विन्यास के अन्त में कवि ने स्पष्ट कहा है कि 'प्रचुर एवं रुचिर छन्दों का यह वर्णन इस लिये किया गया है कि वे ही अपेक्षाकृत अधिक सरल हैं, सब प्रकार के काव्यों में इनका प्रयोग होता है। ये ही सुकवियों के परिचित हैं। ये ही कर्ण प्रिय हैं। इनमें परुष वर्ण, विषम मात्रायें तथा दुष्ट विराम आदि कुछ नहीं हैं। इन्हीं का विचार जिज्ञासुओं के लिये हितकारक हो सकता है।

इति सरल तरत्वात् सर्वकाव्योचितत्वात्,
सुकवि परिचितत्वात् कीर्णकर्णामृतत्वात्।
परुष विषम मात्रा दुर्विरामोज्झितेयम्,
प्रचुर रुचिर वृत्त व्यक्तिरुक्ता हिताय।

दूसरा विन्यास छन्दों के गुण दोष विवेचन का है। इस प्रसंग में छः से लेकर दस अक्षरों तक के पाँच छन्दों को काव्य के अनुपयुक्त समझकर उन्होंने छोड़ दिया है। जैसे मालती की बालकली की नोक पर भौंरी नहीं बैठ सकती, उसी प्रकार ऐसे छोटे छन्दों पर काव्य भारती विश्राम नहीं करती।

न षट् सप्ताक्षरे वृत्ते विश्राम्यति सरस्वती।
भृंगीव मल्लिका बाल-कलिका कोटि संकटे ॥

दूसरे विन्यास में छन्दों का गुण दोष विवेचन किया गया है। यह सामान्य और विशेष दो प्रकार से हुआ है। सामान्य रूप से छन्दों के विषय में क्षेमेन्द्र का विचार है कि गंभीर साहित्य छोटे छन्दों में नहीं लिखा जाना चाहिये। दस तक अक्षरों के पाद वाले छन्द उनकी दृष्टि में छोटे ही हैं। छोटे छन्दों में गति प्रायः द्रुत तथा बड़े छन्दों में विलंबित होती है। इसलिये छोटे छन्दों में समस्त तथा बड़ों में असमस्त शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। अवसरवश इसमें अपवाद भी किये जा सकते हैं पर सामान्य नियम यही है।

छन्दों की समीक्षा में प्रारम्भ के चार छन्द छोड़कर अनुष्टुप से लेकर उन सभी छन्दों पर विचार किया है जिनके लक्षण पहले

विन्यास में दिये गये हैं। समीक्षा में तीन बातों का ध्यान रखा गया है, गति, विश्राम और विषय। इनमें भी पहले दो तत्वों को प्रमुखता दी है। इन दृष्टियों से छन्दों में शब्द योजना का सुझाव कवि ने दिया है। तीसरा तत्व विषय आगे तीसरे विन्यास में विवेचित हुआ है। अच्छा होता यदि वह दूसरा विन्यास बनता और दूसरा उसके बाद आता। इससे समीक्षा का आधार स्पष्ट हो जाता। किस छन्द में कैसी गति होनी चाहिये—इसका संकेत क्षेमेन्द्र को छन्दों के नामों में मिला है। उदाहरण के लिये 'शार्दूल विक्रीडित' छन्द लिया जाय। इस शब्द का अर्थ है 'शेर की क्रीडा'। इससे संकेत मिलता है कि इस छन्द में सिंह की क्रीड़ा की सी मस्त गंभीर गति होनी चाहिये। वह समतल और ऊर्जस्वित हो। प्रारंभ में साधारण पर उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रधान होनी चाहिये। इस प्रेरणा से आचार्य का सुझाव है कि इसका प्रारम्भ 'आ' ध्वनि वाले अक्षर से और अवसान विसर्गों वाले शब्द से होना चाहिये। प्रारम्भ के पदों में हल्की असमस्त भाषा और उत्तरार्ध में समासों का भारापन लिये हुये हो। मध्य में 'ओ' ध्वनि नहीं होनी चाहिये। इससे छन्द का लय चढ़ती उतरती सी है। उसकी समता लुप्त हो जाती है। अपनी बात की पुष्टि में भवभूति का एक बड़ा अच्छा पद्य उदाहृत किया है। रावण को सभा में हनुमान कहते हैं कि 'हे रावण, यदि अज्ञान से अथवा प्रभुता के घमंड में तुमने सीता का हरण हमारी पीठ पीछे कर लिया है तो अब उन्हें छोड़ दो। अभी तो बात मेरे हाथ में है। नहीं तो लक्ष्मण के उछलते हुए रक्त सने बाणों से जब दिशाएँ ढँप जायेंगी तो तुम पुत्रों सहित उन्हीं की छाया में मृत्युलोक को जाओगे।'

> अज्ञानाद् यदि वाधिपत्यरभसादस्मत्परोक्षंहृता,
> सीतेयं प्रतिमुच्यतां शठ, मरुत्पुत्रस्य हस्तेऽधुना।
> नो चेल्लक्ष्मण मुक्त मार्गणगणच्छेदोच्छलच्छोणित,
> च्छत्रच्छन्न दिगन्त मन्तकपुरं पुत्रैर्वृतो यास्यसि॥

इस पद्य में भाव और छंद दोनों की दृष्टि से शब्द योजना ठीक है। पूर्वार्ध में क्षमाभाव दिखाया गया है उत्तरार्ध में क्रोध। उसी के अनुसार पहले असमस्त हल्की भाषा और बाद में समासों की गौरवपूर्ण भाषा व्यवहृत हुई है। छन्द की भी यही मांग है। इसी शैली से छन्दों की समीक्षा हुई है।

विन्यास की समाप्ति पर बताया गया है कि समीक्षा में गुण दोषों का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म एवम् कोमल प्रतिभा वाले व्यक्तियों के ही अनुभव की वस्तु है। विविध रूप वाली वाणी के गुण अवगुण जो लोग जानते हैं, दोषों के अत्यन्त सूक्ष्म रूप को भी जो अनुभव कर लेते हैं वही लोग इस विवेचन को ठीक ठीक समझ सकेंगे।

तीसरे विन्यास में वर्ण्य विषय की अपेक्षा से छन्दों का विवेचन किया गया है। किस विषय अथवा किस भाव के लिये कौन सा छन्द प्रयुक्त करना चाहिए यह इसका विवेच्य विषय है। इस संबध में भी उन्होंने कुछ तो साधारण नियम बताये हैं और कुछ विशेष। साधारण नियम इस प्रकार हैं:—

कविता चार प्रकार की हो सकती है।

१—शास्त्र

२—काव्य

३—शास्त्र काव्य

४—काव्य शास्त्र

शास्त्र से तात्पर्य उन ग्रन्थों का है जिनमें काव्य के अंग उपांगों के स्वरूप तथा गुण दोषों का विवेचन किया जाता है जैसे काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण आदि। इसका अर्थ अधिक से अधिक स्पष्ट हो तभी पाठकों का उपकार हो सकता है। अर्थ की स्पष्टता अनुष्टुप छन्द से अधिक आती है अतः शास्त्र के लिये अनुष्टुप छन्द उपयुक्त है।

काव्य में विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ का अलंकारों के साथ मेल होता है। उसमें रस और वर्णन के अनुरूप सब प्रकार के छंदों का यथा स्थान प्रयोग करना चाहिये।

शास्त्र काव्य वह है जिनका रूप तो इतिवृत्तात्मक पर विषय काव्य के समान रहे। इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग का वर्णन उपदेशात्मक पद्धति से होता है। इसमें भी बड़े बड़े छंदों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

काव्य शास्त्र इससे विपरीत होता है। वह रूप में तो ललित एवम् चमत्कार युक्त होता है पर प्रतिपाद्य विषय शास्त्रों का सा रूक्ष होता है। संस्कृत में भट्टिकाव्य तथा भौमक काव्य इसके उदाहरण

है। भौमक काव्य काश्मीर में लिखा गया था भट्टि काव्य आज भी पठन पाठन में आता है। इससे व्याकरण साहित्य आदि विषयों की शिक्षा ललित शैली में राम की कथा के सहारे दी गई है। कि वदन्ती है कि कभी पढ़ाते समय बल्ली गुरु और शिष्यों के मध्य से निकल गई थी। इसलिये एक वर्ष का अनध्याय करना पड़ा। गुरु ने फिर रामकथा सुनाना आरम्भ कर दिया और उसी में वह सब कुछ पढ़ा गया जो उन्हें पढ़ाना था। इसमें छन्दों का प्रयोग विभिन्न रसों के अनुसार किया जाता है। केशव की कवि प्रिया, रसिक प्रिया आदि काव्य शास्त्र ही हैं।

चौथा प्रकार शुद्ध साहित्य का है। इसमें विशिष्ट शब्द और अर्थ का मेल अलंकार युक्त शैली में किया जाता है। छन्दों का प्रयोग इसमें रस और वर्णन के अनुरूप होता है। इस आनुरूप्य को स्पष्ट करने के लिये क्षेमेन्द्र ने पंद्रह छन्दों के विषय और भावों का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है।

१—अनुष्टुप—शमादिका उपदेश
२—उपजाति—शृंगार के आलंबन-उद्दीपन
३—रथोद्धता—चन्द्रोदय आदि शृंगार-उद्दीपन।
४—वंशस्थ—नीति
५—वसंततिलका—वीर तथा रौद्ररस का मिश्रण
६—मालिनी—सर्ग के अन्त में।
७—शिखरिणी—युक्तियों द्वारा वस्तुओं में भेद प्रदर्शन।
८—हरिणी—उदारता, औचित्य आदि।
९—पृथ्वी—आक्षेप, क्रोध, धिक्कार आदि।
१०—मंदाक्रांता—वर्षा, वियोग की व्यथा आदि।
११—शार्दूलविक्रीडित—शौर्य वर्णन।
१२—स्रग्धरा—पवन आदि का वेग वर्णन।
१३—दोधक, तोटक तथा नर्कुट—मुक्तक शैली के सूक्त।

यह क्षेमेन्द्र का सविशेष विचार है। साधारण रूप से अपना मंतव्य उन्होंने इस प्रकार दिया है।

सिद्ध हस्त कवियों के हाथ में पड़ कर सभी छन्द योग्य बन जाते हैं। गोग्रह के संग्राम के समय विराट पुत्र के साधारण अश्व भी अर्जुन के हाथों में आकर विशेष बन गये थे। फिर भी अवस्था

और भावों के अनुरूप जो छन्दों का प्रयोग होता वह विशेष उत्कर्ष उत्पन्न करता है।

यदि कोई व्यक्ति कमर की मेखला गले में पहन ले तो उससे पहनने वाले की अज्ञता ही प्रकट होगी। जिस प्रकार नवयुवती के योग्य वृद्ध पुरुष नहीं हो सकता उसी प्रकार सरस भावों के लिये रूखे छन्द तथा रूखे भावों के लिये सरस छन्द अनुपयुक्त होते हैं।

बड़े बड़े महा कवियों ने यद्यपि अनेक छन्दों का सफलता पूर्वक प्रयाग किया है फिर भी उनकी सिद्धि किसी विशेष छन्द में ही रही है। कवियों का अधिक प्रयोग अपने सिद्ध छन्द का ही करना चाहिये। इस विषय में संस्कृत के कुछ कवियों के नाम लिये जा सकते हैं। जैसे—

विद्याधर अनुष्टुप
पाणिनि—उपजाति
भारवि वंशस्थ
रत्नाकर—वसंततिलका
भवभूति शिखरिणी
कालिदास—मंदाक्रांता
राजशेखर—शार्दूलविक्रीडित

ऊपर जो छन्दों का विषयवार विवेचन किया है वह प्रायिक समझना चाहिये। कवियों का अपने अभ्यस्त छंद का ही प्रयोग करना चाहिये। जिनके वश में वाणी नहीं होती वे यदि बारबार छन्द बदलते है तो प्रबन्ध बिगड़ जाता है। सिद्ध कवीश्वर सब प्रकार से सफलता ले लेते है। हिन्दी में केशव और तुलसी इसके उदाहरण हैं। केशव ने रामचंद्रिका में छन्दों को शीघ्र-शीघ्र परिवर्तित किया है। इसस रसका संतान कहीं नहीं बँधता। तुलसी ने अनेक छंदों का यथास्थान सफलता से प्रयोग किया है। अपने अभ्यस्त छंद में विशेष सफलता प्राप्त करने वालों में बिहारी, मीरा, महादेवी वर्मा आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त विमर्श से कुछ साधारण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं:—

१—संस्कृत छन्दों के प्रभाव गति आदि का संकेत उनके नामों में रहता है जैसे मंदाक्रांता, द्रुत-विलंबित, शार्दूलवि क्रीडित आदि। क्षेमेन्द्र ने अपने सुझावों का आधार इन्हीं संकेतों को बनाया है।

२—छन्दों के लक्षणों में यति का संकेत प्रायः रहता है। पर इसके अतिरिक्त भी लय में अनेक छोटे छोटे विश्राम रहते हैं जो लक्षणों में नहीं दिये जाते और जिनका परिचय प्रतिभाशील व्यक्ति ही कर पाते हैं। ये विश्राम स्वभावतः एक शब्द के पूरा हो जाने पर आते हैं। समास हो जाने से अनेक शब्दों का एक शब्द बन जाता है और मध्य का विश्राम लुप्त हो जाता है। समस्त पद में, इसी लिये गति द्रुत हो जाती है। क्षेमेन्द्र ने जो छन्दों के प्रसंग से समासों का विधि-निषेध किया है वह इसी दृष्टि से किया है। पृथ्वी छन्द की गति विस्तृत होती है—जैसा कि उसके नाम से व्यक्त होता है। असमस्त पदों से उसका स्वरूप ठीक रहता है। समासों से तो वह संकुचित सी हो जाती है।

३—हृदय भावों के प्रभाव में संकोच विस्तार, शीघ्रता, मंदता, आरोह, अवरोह आदि का अनुभव किया करता है। ये ही प्रभाव भाषा में लय, एवं ध्वनियों की विशेष योजना द्वारा भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसी तत्व को दृष्टि में रख कर छन्दों और उनके वर्णों की, पारस्परिक उपयुक्तता का निर्णय करना चाहिये। जिस प्रभाव का भाव हो उसी प्रभाव की लय वाला छंद उसके लिये प्रयुक्त होना चाहिये। भाषा में ध्वनियाँ भी इसी प्रभाव की हों, इस प्रकार छन्द, भाव और भाषा की त्रयी एक रूप हो जाती हैं। क्षेमेन्द्र ने 'आ' ध्वनि में विस्तार और विसर्ग ध्वनि में द्रुत आरोह का अनुभव किया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द के विषय में कवि का विचार है कि इसके पादों का आदि अक्षर 'आ' तथा अन्त्य अक्षर विसर्ग होने चाहिये। तभी छंद ऊर्जस्वित बन सकेगा। इसी प्रकार मालिनी छन्द में आरोह होता है। इसीलिये उसका में सर्गान्त प्रयोग किया जाता है। इस विसर्गों से हीन शब्द हों तो वह पुछकटी चमरी गौ की भाँति शोभा हीन बन जाती हैं।

४—भाषा में गति तथा विश्राम पैदा कर छन्द का स्वभाव बदला जा सकता है। मंद गति के छन्द में यदि त्वरित गति की भाषा प्रयुक्त हो तो वह त्वरित प्रभाव वाले भाव का बाहन बन सकता है।

५—छोटे छन्दों में समस्त तथा बड़े छन्दों में असमस्त शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होता है। ऐसा करने से द्रुत और विलंबित गति का क्रमशः उत्पादन हो जाता है।

६—छन्द का निर्वाचन भाव तथा अवस्था की दृष्टि से आवश्यक है पर बल पूर्वक अभ्यस्त छन्द को छोड़कर अनभ्यस्त का प्रयोग करने से अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।

७—काव्य के अंगों की समीक्षा का आधार औचित्य होना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कठोर नियम आधार नहीं बन सकता। औचित्य आपेक्षिक तत्व है अतएव परिस्थिति के अनुसार अदलता बदलता रहता है।

क्षेमेन्द्र के बाद चार आचार्य और हैं जिन्होंने छन्दों का स्वतन्त्र विचार किया है। बारहवीं शताब्दी के हेमचन्द्र ने इस विषय पर छन्दोनुशासन लिखा है जिसमें प्रतिपादन शैली की सूक्ष्मता विशेष उल्लेखनीय गुण हैं।

दूसरा केदारभट्ट का वृत्त रत्नाकर है जो छात्रवर्ग में बड़ा प्रसिद्ध है। इस पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। प्रतिपादन की शैली हेमचन्द्र के अनुसार है। विभाजन में ग्रन्थकार की सतर्क बुद्धि के दर्शन होते हैं। अनुमानतः यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी का है।

सोलहवीं शताब्दी में गंगादास ने इस विषय पर छन्दोमंजरी ग्रन्थ लिखा। यह भी प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण करता है। विवेचना आदि की कोई अन्तदृष्टि इसमें नहीं दीख पड़ती।

सबसे बाद में 'वाणी भूषण' के रचयिता दामोदर आते हैं। उन्होंने छन्द पर यह दो अध्यायों की छोटी पुस्तक लिखी है जो किसी नवीन विशेषता के अभाव में पारंपरिक है।

मूल्यांकन

क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्त तिलक' कलेवर में छोटी रचना है पर इसका विषय व्यापक है; प्रतिपादन गंभीर है और संचयन उपयोगी है। दूसरे आचार्यों की भांति क्षेमेन्द्र छन्दों के लक्ष्य लक्षण दिखाकर ही संतुष्ट नहीं होते। वे उनके गुण दोषों का विवेचन करते हैं, उनके प्रयोग के स्थलों का निर्धारण करते हैं। दूसरों की भाँति वे आवश्यक अनावश्यक सभी छन्दों का संग्रह भी नहीं करते। जिनका काव्यों में प्रचुरता से प्रयोग मिलता है, उन्हीं पर अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। इससे उनकी व्यावहारिकता का परिचय मिलता है।

इनके छन्द विचार में अंतर्गामिनी भावुकता, व्यापक अध्ययन और संतुलित विवेक के दर्शन होते हैं। क्षेमेन्द्र ने जो कार्य छन्दों के क्षेत्र में किया है वह इतना कठिन है कि बाद के लोग उनका मार्गानुसरण भी न कर सके। छन्दाचार्यों के वन में क्षेमेन्द्र अकेले ही साल वृक्ष की भाँति सबसे ऊपर दिखाई देते हैं। 'सुवृत्त तिलक' की शैली भी साहित्यिक सरस है। गुण दोषों के विवेचन में उपमाओं की योजना विषय को अत्यन्त ग्राह्य एवं सरस बना देती है।

इसमें उनकी आलोचना की अन्तर्दृष्टि और व्यावहारिक विवेक का तो साक्ष्य मिलता ही है। इसके अतिरिक्त दृष्टि की उदारता भी भलीभाँति लक्षित होती है। वे अपनी मान्यताओं में कठोर नहीं हैं। छन्दों के विषय गिनाकर अन्त में मित्र-भाव से उन्होंने सलाह दी है कि समर्थ कवि अपने अभ्यस्त छन्दों का सबसे अधिक प्रयोग करें और बुभूषु कवि इसमें अपना पथ निर्देश ढूढ़ें। यह केवल सहायक है एक मात्र आज्ञा नहीं।

भाग २

मूलानुवाद

१—औचित्य विचार चर्चा

मंगल—जिन्होंने शत्रु को ठगने में अपनी दृष्टि को अंजन से मैली बना लिया था उन परम औचित्यकारी भगवान विष्णु को प्रणाम है।

प्रस्तावना—क्षेमेन्द्र 'कवि कर्णिका' नाम की रचना में काव्य के अलंकारों का वर्णन कर तथा विद्वानों के हर्ष के लिए उसके गुण दोषों का भी विवेचन कर काव्यानुभूति में चमत्कार के हेतु और रस के जीवित औचित्य तत्व का अब विचार करते हैं।

आवश्यकता—यदि काव्य में ढढ़ने पर भी औचित्यक के दर्शन न हों तो उसके अलंकार एवं गुणों की मिथ्या गणना निरर्थक है। अलंकार अलंकार ही हैं और गुण भी गुण हैं। रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है।

काव्य एक दूसरे का उपकार करने वाले शब्दों और अर्थों का समुच्चय रूप है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि जो प्रचुर अलंकार हैं वे कटक, कुण्डल, केयूर, हार आदि के समान केवल बाह्य शोभा के हेतु होते हैं। इसी प्रकार कुछ लक्षणचतुर लोगों ने काव्य के गुणों की रस के प्रसंग में गणना की है पर वे भी अस्थिर होते हैं जैसे श्रुत, सत्य, शील आदि मानवीय गुण। औचित्य तो, जैसा कि इसका आगे लक्षण किया जायेगा, काव्य का स्थिर अविनश्वर जीवित है। इसके बिना काव्य निर्जीव है भले ही वह गुण अलंकारों से युक्त हो। शृङ्गारादि रसों से भरपूर काव्य का औचित्य वैसे ही जीवित है जैसे रसायनों द्वारा परिपुष्ट व्यक्ति के लिए सेवनीय रस की मात्रा का उचित होना जीवित होता है।

इसी बात को विशेष रूप में यों कहा जा सकता है कि :—

(६) कारिका—अलंकार तभी अलंकार होते हैं जब उनका विन्यास उचित स्थान पर हो। गुण भी यदि औचित्य से च्युत नहीं हैं तो गुण होते हैं।

वृत्ति—अलंकार तभी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब उनका विन्यास उचित स्थान पर हो। नहीं तो वे केवल नाम के अलंकार

रह जाते हैं। इसी प्रकार औचित्य से युक्त गुण गुणता प्राप्त करते हैं वर्ना वे अगुण ही हैं. जैसे किसी ने कहा है कि—

'कण्ठ में मेखला, कटि में चंचलहार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर पहने से; (तथा)
शौर्य से झुके शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहस नीय नहीं हो जाते। औचित्य के बिना न अलंकार रुचिरता देते हैं न गुण।

लक्षण—वह औचित्य है क्या ?

(७) का०—जो जिसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं। उसका भाव औचित्य है।

वृ०—जो जिसके अनुरूप हो वह उचित कहा जाता है। उसी के भाव को औचित्य कहते हैं।

औचित्य के स्थान—अब काव्य के समस्त शरीर में जीवनभूत औचित्य की स्थिति प्रधान रूप से कहाँ-कहाँ होती है—यह दिखाया जाता है।

(८-१०) का०—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६ रस, ७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्व, (१९) सत्व (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव (२२) सारसंग्रह, (२३) प्रतिभा, २४ अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वचन तथा (२८) अन्य काव्यांगों में औचित्य जीवित रूप से व्याप्त रहता है।

वृ०—पद आदि काव्य के मर्मस्थान हैं। औचित्य जीवित बनकर इन सब में व्याप्त रहता है। उसकी स्फुरणा स्पष्ट प्रतीत होती है। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१—पद में औचित्य—

(११) का०—सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी का तथा श्यामा के मस्तक पर चंदन का तिलक। जैसे:—

'हे देव, युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गए'—इस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों से सुन कर;

भोली गुर्जर-नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है। (परिमल कवि)

यहां 'भोली' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है और गौराङ्गी के मुख पर श्याम तथा श्यामा के मुख पर गौर तिलक की भांति एक विलक्षण विच्छित्ति उससे अनुभूत होती है।

नीचे लिखे पद्य में यह नहीं है।

'सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ विचार नहीं किया; महान् क्लेश स्वीकारा; स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता का ज्वर उत्पन्न किया। यह बेचारी भी योग्य पति के अभाव में दुखी है। बिधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था?

(धर्मकीर्ति)

यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से (तन्व्यास्तनु तन्वता) प्रयुक्त हुआ है। किसी प्रकार के अर्थौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। 'सुन्दरी शब्द का प्रयोग अनुरूप हो सकता था अथवा अत्यधिक रूप या लावण्य के व्यंजक अन्य पद प्रयुक्त हो सकते थे। तन्वी शब्द तो विरहकृश स्त्रियों के लिये प्रयुक्त हो तो उचित अर्थ का द्योतक होकर शोभाजनक होगा। जैसे:—

'कमल के पत्तों की यह शय्या दोनों ओर पीनस्तनों तथा जघन के संपर्क से मुरझा गई है; शरीर के मध्य भाग का मिलन न होने से बीच में हरित रह गयी है। ढीली भुज-लताओं के इधर उधर फेंकने से जहाँ तहाँ चिह्न बन गये हैं। इस प्रकार यह कृशांगी के संताप की सूचना देती है।

(श्री हर्ष)

यहां 'कृशांगी' शब्द सागरिका की विरहावस्था का सूचक है अतः औचित्य की पुष्टि करता है।

२—वाक्यगत औचित्य—

(१२) का०—त्याग से उन्नत बने ऐश्वर्य एवं शील से उज्वल बने शास्त्रज्ञान की भांति औचित्य के साथ रचा गया वाक्य सज्जनों को सदा प्रिय लगता है।

वृ०—जो लोग काव्य के विवेक में निपुण हैं उन्हें औचित्य से रचा गया वाक्य ही अभीष्ट लगता है। जैसे:—

'देव युधिष्ठिर दयालु हैं, अर्जुन जितेन्द्रिय है, नकुल सहदेव अपने संयम के लिए आदरणीय हैं—यह कहता हुआ भीम कीचक का विनाश करने वाली अपनी भुजाओं पर हाथ फेरने लगा। वह किर्मीर की जटाओं का विध्वंसक, कुबेर के शौय को शान्ति का उपदेश देनेवाला, कौरवों की अन्तिम रेखा का कृतान्त, हिडम्बा का प्रिय भीम आज अपने यथार्थ रूप में दिखाई पड़ा।

(क्षेमेन्द्र कृत विनयवल्ली)

यहाँ पर हिडम्बा आदि के निर्देश से भीम के चरित का संकेत देने वाले वाक्य रौद्रास के अनुरूप हैं। वर्णन को सजीव सा बना देते हैं। अतः उचित हैं। अथवा जैसे:—

'हे सुन्दरि, भगवान शिव की चूड़ा के मणि चन्द्रमा को इधर देखो! यह पुरुवंशी राजाओं का संबंधी है।

मदन व्यापारों की दीक्षा में गुरु है। गोरांगियों के बदन की उपमा से परिचित है। ताराबधू का प्रिय है। इसकी द्युति दाक्षिणात्य तरुणी के हाल में ही मांजे गये दाँतों की भाँति अवदात है।

(राजशेखर)

यहाँ श्रृङ्गार रस के अंतरंग भावों के द्योतक कामोद्दीपक अर्थ की सूचना देने वाले पदों से वाक्यार्थ निष्पन्न हुआ है। इसलिये औचित्य के कारण अत्यन्त प्रिय लगता है। यह तत्त्व नीचे लिखे पद्यार्थ में नहीं है—

'दुर्योधन की विक्रमशील भुजाओं पर आश्रित जगत प्रसन्न रहे। ये भुजायें शौर्य के कमल का नाल हैं, युद्ध के वारिधि का विपुल सेतु हैं, खड्ग रूपी भुजंग का चन्दनतरु हैं लक्ष्मी का क्रीड़ा उपधान है। जयकुंजर का आलान हैं और सुन्दरियों के कंदर्प का दर्प हैं।

(राजशेखर)

यहां एक योद्धा के कठोर भुजास्तम्भों का उत्कर्ष के साथ वर्णन है। पर कमल नाल से उसकी तुलना के कारण वाक्यार्थ बड़ा उपहसनीय बन गया है।

३—प्रबन्धार्थ का औचित्य—

(१३) का०—यदि कोई विशेष अर्थ उचित रूप से उपनिबद्ध हो तो उस से समस्त प्रबन्धार्थ इस प्रकार शोभित होता है जैसे गुणों के प्रभाव में भव्य बने वैभव से कोई सत्पुरुष शोभित होता है।

वृ०—काव्यों में कभी कभी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा ऐसे अर्थ की कल्पना की जाती है कि वह अमृत का बरसाने वाला बनकर समस्त प्रबंधार्थ को आप्यायित कर देता है। सारा काव्यार्थ उससे व्याप्त एवं प्रभावित होता है और एक विशेष चमत्कार आभासित होने लगता है। जैसे—

> 'हे मेघ, मैं जानता हूँ, तुम पुष्कर-आवर्तक मेघों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुए हो, अपनी इच्छा के अनुरूप आकार धारण करने वाले हो और इन्द्र के प्रधान सेवक हो।
>
> इसलिए अपनी प्रिया से वियुक्त होकर मैं तुम्हारा याचक बना हूँ। श्रेष्ठ व्यक्ति से की गई याचना असफल भी हो तो भी वह नीच व्यक्ति से की गई सफल याचना से कहीं अच्छी होती है।
>
> (कालिदास-मेघदूत)

यहाँ अचेतन में चेतनत्व का अध्यारोप किया गया है। मेघ पुष्करों और आवर्तकों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न है। इन्द्र का प्रधान सेवक है। इससे दूत कर्म की योग्यता का उसमें आधान करना उचित हो जाता है। फलस्वरूप समस्त प्रबन्धार्थ का कल्पित इतिवृत्त संगत एवं रुचिरतर बन जाता है। सब मिलाकर एक निरतिशय औचित्य की द्योतना होती है।

अथवा भवभूति कृत उत्तर 'रामचरित' के नीचे दिये गए प्रसंग में देखिए—

(नेपथ्य में) 'यह अश्व और पताका हैं अथवा समस्त संसार के अद्वितीय वीर रावण के कुल के शत्रु राम की वीर घोषणा है।

लव—(गर्व के साथ) ओह, इन शब्दों से तो संताप होता है। अरे क्या पृथ्वी क्षत्रियहीन हो गई जो तुम इस प्रकार घोषणा कर रहे हो ? (हँस कर) अहा, कैसे शस्त्र फड़कते हैं। (धनुष तानते हुए)

> 'इस धनुष की प्रत्यंचा ही जीभ है। वलयाकार पैनी कोटियाँ इसकी दाढ़ें हैं। घने घर्घर घोष को यह उगल रहा है।

अपना ग्रास खाने में व्यस्त तथा हँसते हुए यमराज के मुख की जंभाई को भी यह अपने विकट उदर से हीन बना देता है। (भवभूति)

यहाँ भवभूति ने रामायण की कथा का अतिक्रमण कर राम के पुत्र लव के विक्रम और शौर्य के उत्कर्ष की कल्पना की है। वह दूसरे के प्रताप को न सहन करने से युक्तिसंगत बनती है और प्रबन्ध में फैले हुए रस के अनुकूल बनकर औचित्य की छाया प्रदान करती है।

राजशेखर के नीचे लिखे पद्य में यह तत्त्व नहीं है—

रावण—'जो धनुष पार्वती के कुचों को हठपूर्वक ग्रहण करने में लगे शिवजी के हाथों में हजारों वर्ष रहा है, जिसका गात्र देवों के सार कणों से बना है और जो मैथिली के मूल्य का धन है वह इस समय तन जाय।

जनक—इसके साथ ही अगर्भसम्भवा सीता का भी प्रतिदान हो?

यहाँ सीता के प्रतिदान की बात जो रावण के प्रसंग से जनक ने कही है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्यात् राक्षस को सीता का प्रतिदान करना उन्हें अभीष्ट है। यह समझ में नहीं आता कि कामलांगी सीता मानवभक्षी राक्षस जाति के रावण को कैसे दी जा सकती है। वह तो राक्षसों का भक्ष्य थी। इस प्रकार यह अनौचित्य चरित्र को विपरीत बनाता है और भावुक हृदय में बड़ी अरुचि उत्पन्न करता है।

कालिदास के नीचे लिखे पद्य में भी औचित्य नहीं है:—

'कुछ क्षणों के लिये शिवजी के नेत्र पार्वती के उरु मूल में बनी हुई नखचिह्नों की पंक्ति में लुभा गये। फिर उन्होंने प्रियतमा को अपने ढीले वस्त्र कसने से रोक दिया।

यहाँ अम्बिका के संभोग का वर्णन है; पर पार्वती के उरु मूल में नखचिह्नों की पंक्ति बताना पामर नारियों के योग्य है और उस पर त्रिजगद् गुरु त्रिलोचन शिव का मोहित होना दिखाना परम अनुचित है। इससे यह प्रसंग अनौचित्य की पुष्टि करता है।

४—गुणों में औचित्य

(१४) का०—प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप गुणों का काव्य में संनिवेश

संभोग के अवसर पर उदित हुए चन्द्रमा के समान अमन्द आनन्द प्रदान करता है।

वृ०—प्रस्तुत अर्थ के उचित ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों का प्रयोग काव्य में सुभग तथा भव्य होता है। वह चन्द्रमा के समान सहृदयों को आनन्द संदोह प्रदान करता है। जैसे भट्ट नारायणकृत वेणी माधव नाटक के निम्नलिखित पद्य में—

> 'महाप्रलय के वायु से संक्षुब्ध हुए पुष्कर और आवर्तक मेघों के गर्जन के समान भयावह, सुनने में आतंककारी और आकाश पृथ्वी के अंतराल को भर देने वाला यह अभूतपूर्व शब्द आज समरोदधि से कैसे उठा?

यहाँ ओजस्वी श्रेष्ठ योद्धा अश्वत्थामा के ऊर्जस्वित प्रताप का वर्णन है। उसके अनुरूप ही ओज गुण भरे वाक्यों का प्रयोग है। इससे पराक्रम का औचित्य और गौरव सहस्र गुण अधिक बढ़ जाते हैं।

बाणभट्ट के नीचे लिखे पद्य में भी यह विद्यमान है:—

> 'हार, जलार्द्र वस्त्र, नलिनी दल, ओस बरसाती हुई चन्द्रमा की किरणें और चन्दन के सरस आलेप जिसके ईंधन बनते हैं वह कामाग्नि किस प्रकार बुझ सकेगी'[1]

यहाँ कादम्बरी की विरह व्यथा का वर्णन है। वियोग में उस का धैर्य टूट चुका है। ऐसे भावों के वर्णन के लिए माधुर्य, सुकुमारता आदि गुणों का प्रयोग किया गया है। इससे प्रसंग ऐसा आनन्ददायक बन गया है जैसे पूर्णेन्दुवदना सुन्दरी मधुर भाषण से प्रियतर हो जाती है।

महाकवि चन्द्रक[2] के इस पद्य में यह तत्त्व नहीं है:—

> भाग्यचपल युद्धों के विषय में मैं क्या प्रण करूँ? जय और पराजय तो दैव देता है, पर युद्ध स्थल में आकर मैं यह

१—जिसका यह अर्थ है वह पद्य बाण की पद्यबद्ध कादम्बरी से उद्धृत है। यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। पद्य इस प्रकार हैं।

हारो जलार्द्र वसनं नलिनी दलानि, प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानिच चन्दनानि निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः।

२—यह चन्द्रक कवि, ईसवी पूर्व पहली शताब्दी में तुंजीन राजा का समकालीन था। राजतरंगिणी में इसका उल्लेख है।

प्रतिज्ञा अवश्य करता हूँ कि शत्रु मेरे घोड़ों की जंघाएँ नहीं देख पायेंगे।

यह किसी योद्धा की उक्ति है। इसे क्षात्रवृत्ति के समान ओज गुण से युक्त होना चाहिये था। यद्यपि इसका अर्थ उचित है पर उचित गुण के अभाव में ऐसी मन्द पड़ गई है जैसे दरिद्र घर की तेजोविहीन दीप शिखा।

राजशेखर के निम्नलिखित पद्यार्थ में भी यह गुण नहीं हैं:—

'इसके कामज्वर को स्नेही जन भी जल जाने के भय से छूकर नहीं देखते। जल तो इस पर उबलने लगता है।

चन्दनादि औषधियों का प्रयोग इस पर निरर्थक हो जाता है। यहाँ तक है कि हार और मालाओं की मणियाँ वक्षस्थल से लग कर खीलों की भाँति चटचटाकर फूट जाती हैं।'

यहाँ वर्ण्य है विरहविधुर रमणी की पीड़ादशा उसके अनुरूप यहाँ माधुर्य गुण भी है। पर उसको त्यागकर 'चटचटाकर खील की भाँति फूट जाती हैं।' आदि वाक्यों में ओज की स्फूर्जना दिखाई गई है। इससे सूक्ति चित्त में इसी प्रकार अनौचित्य का संचार करती है, जिसप्रकार कटु बोलने वाली कोमलांगी सुन्दरी।

५—अलंकारों में औचित्य—

(१५) का०—प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलंकार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्यभारती इस तरह शोभित होती है जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।

वृ०—प्रस्तुत अर्थ के उचित ही यदि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार प्रयुक्त हों तो उससे काव्योक्ति उन्नत कुचों पर लटके हुए मुक्ताहार से कामिनी की भांति अत्यंत शोभायमान होती है। जैसे—श्री हर्ष के निम्नलिखित पद्यार्थ में:—

'अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भाँति इधर ही आ रहे हैं। लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। अतः प्रेमी वे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करते हुए साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।

यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा शृंगार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है। यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है।

महाकवि चन्दन के नीचे लिखे पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं है।

'पक्षियों ने आँतों को वृक्षों की टहनियों पर फेंक फेंक कर झूलासी बना दी है। श्रृगाली भरपेट मांस खाकर रतिखिन्न रमणी की भाँति सो रही है। प्यासा श्रृगाल रुधिर में सनी तलवार को बारबार चाट रहा है और यह सांप बिल की खोज में मरे हुए हाथी की सूंड़ के अग्र भाग में प्रविष्ट हो रहा है।

यहां पुरुषों का मांस खाकर सोई हुई श्रृगाली की समता सुरत केलि में क्लान्त रमणी से की गयी है। यह अनुचित है। इससे रस वैपरीत्य प्रकट होता है।

मालवरुद्र के इस पद्यार्थ में वही बात है।

'शरद के दिनों में उपलों की आग नई बहू के कोप जैसी प्रिय लगती है। बर्फीली हवा कुबड़े व्यक्ति के आलिंगन के समान क्रूर लगती है। सूर्य की कान्ति निधन व्यक्ति की आज्ञा के समान मंद पड़ गयी है। चन्द्रमा विरहिणी स्त्री के मुख जैसा मलिन बन गया है।

यहां कोमल कामिनी के कोप से उपलों की अग्नि को समता दी गई है। यद्यपि शीतकाल में प्रिय लगने के कारण वह अनुभूति में ठीक है पर रूप में पहले पहल अनुचित लगती है। चित्त में इससे संकोच का अनुभव होता है। कहां नवोढा का कुपित मुख और कहां दहकता हुआ अंगार? यह समता अनुचित है।

अथवा राजशेखर का निम्नलिखित पद्य देखिये :—

'चन्द्रमा जलते हुए कामदेव के चिता चक्र जैसा, और उसका कलंक मलिन बुझे अंगारों जैसा लगते हैं। यह जो चांदनी में मिला हुआ पिसे कपूर जैसा सफेद पदार्थ है, वह मानों चिता की भस्म ही वायु से इधर उधर उड़ रही है।

इसमें चन्द्रमा की समता चिताचक्र से दीगई है। यह अनुचित है। चन्द्रमा आनन्दसुधा का बरसाने वाला है। चिताचक्र कानों को कटु है और चित्त में आतंक उत्पन्न करता है। अतः उक्त पद्यार्थ में अलंकार गत औचित्य नहीं रहा। जो अर्थ हृदय को प्रिय हो और अनौचित्य का उसमें लेश भी न रहे तो वह अलंकार की शोभा को

अधिकाधिक पुष्ट करता है। जैसे कवि कार्पटिक के नीचे लिखे पद्यार्थ में :—

'मैं उड़द की फली की तरह जाड़े में इठ गया था। चिन्ता-सागर में गोते खाने लगा। अग्नि ठंडी होगई थी। उसे फूंकते फूंकते होठ खुले ही रहते थे। भूख के मारे कण्ठ भी क्षीण था। निद्रा विमानित प्रियतमा की भाँति छोड़कर दूर चली गई और रात्रि सत्पात्र को दान की गई पृथ्वी के समान क्षीण ही नहीं हो पार ही थी।

यहाँ प्रतिपाद्य अर्थ हृदयसंवादी है और अनौचित्य का थोड़ा अंश भी नहीं है। अतः कविता औचित्य के अभाव में भी रमणीय है।

६—रसगत औचित्य

१६—औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधु मास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को अंकुरित कर देता है।

शृङ्गार रसगत औचित्य—

श्री हर्ष का नीचे लिखा पद्यार्थ उदाहरण है:—

'इस उद्यानलता की कलिकायें बढ़कर ऊपर उठ आई हैं। इसकी कान्ति पीली पड़ गई है। जँभाई लेकर दीर्घ श्वासों से मानो क्षण भर के लिये यह अपनी थकान को प्रकट कर रही है। इसे आज मदन पीड़ित नारी की तरह देखकर देवी वासवदत्ता का मुख कोपारुण हो जायगा।'

इसमें वासवदत्ता के ईर्ष्याविप्रलंभ भाव की कल्पना की गई है। नवीन मालती लता को ललित बनिता के तुल्य कल्पित कर उसमें विरह दशा का आरोप किया गया है। इस प्रकार उपमा द्वारा एक रुचिर औचित्य की सृष्टि हुई है और उससे चमत्कार जनक दीप्ति का जन्म है।

कालिदास के निम्नलिखित पद्य में भी यही बात है।

'ढाक के अत्यधिक लाल लाल फूल पूरे विकसित नहीं हुए थे। इसलिये बाल इन्दु की भाँति टेढ़े दिखाई देते थे। ऐसा लगता था कि बन स्थलियों का जो बसन्त से समागम हुआ है उसमें उन्हें सद[1] नखक्षत लग गये हैं।

१—सद = ताजा, अभी हाल का, संस्कृत सद्यः।

यह कुमार संभव का प्रसंग है। प्रस्तुत पद्यार्थ के बाद भगवान् शंकर का पार्वती के प्रति अभिलाषा श्रृङ्गार वर्णित हुआ है। उससे पूर्व यहाँ बसन्त कामुक के और बनस्थली कामनियों के रूप में कल्पित हैं ' ढाक की लाल टेढ़ी कलिकाओं की नवसंगम के नखक्षत के रूप में उत्प्रेक्षा है। प्रस्तुत प्रसंग दूर तक श्रृङ्गार रस का है। उसी के अनुरूप उपमान गत वस्तुसमूह शृंगारिक है। अतः यहाँ औचित्य की उत्कृष्ट चारुता विद्यमान है।

उन्हीं के इस पद्य में औचित्य नहीं है।

'कनेर का फूल वर्ण में तो उत्तम था पर गन्ध शून्य था इस लिये चित्त को खेद प्रदान करता था। गुणों के संयोजन विधान में विश्व के सृजनहार की प्रवृत्ति प्रायः उलटी रहती है।

यहाँ विधाता की निन्दा के साथ केवल कनेर के फूल का वर्णन है। उसका प्रस्तुत शृंगार रस में कोई उपयोग नहीं दिखाया गया। इसलिये उद्दीपन विभाव के उचित कुछ भी नहीं कहा गया। फलतः रसगत औचित्य का अभाव है।

हास्यरस गत औचित्य—

उदाहरण-ग्रन्थकार के स्वरचित 'लावण्य वती' नामक काव्य से।

'क्या मदिरा को छलेने के भय से मेरा मुख नहीं चूम रहे ? अपनी नाक क्यों ढकते हो ? अरे यह श्रोत्रियपना क्यों बखेरते हो। वेश्या के बिना तुम कुछ नहीं। मद से घूर्णित नेत्रों वाली मालती ने ऐसा कहकर सिकुड़ते हुए अत्रिवसु श्रोत्रिय पर मौलश्री वृक्ष की भाँति आसव छिड़क दिया।

इसमें मुख्य रस हास्य है। गौण है श्रृङ्गाराभास। इसके स्पर्श से मुख्यरस में ऐसा चमत्कारी औचित्य आ गया है जैसा किसी श्रेष्ठ आसव में आम का रस मिला देने पर होता है। इस औचित्य का व्यंजक व्यापार यहाँ है अपवित्र मदिरा के स्पर्श की शंका एवं संकोच से सिकुड़ते हुए अत्रिवसुश्रोत्रिय पर सूखे मौलिश्री वृक्ष की भाँति सरसता लाने के लिए वेष विलासिनी का आसव छिड़कना। इस प्रकार हास्य रस गत औचित्य यहाँ वर्तमान है।

ग्रन्थकार के उसी ग्रन्थ का दूसरा उदाहरण—

'मार्ग में केरल देश की रमणी पैर में केतकी की सुई छिद

> जाने से 'सीसी' करने लगी। पर उसके साथी विट ने प्रार्थना की कि यह चेष्टा अत्यन्त रम्य है। ऐसा ही फिर करो। इस पर वह मुसका दी। क्षण भर के लिए उसके चार दाँतों पर चाँदनी का जो प्रतिबिम्ब पड़ा तो ऐसा लगा मानो वह कान्ता धूर्त के देखने से लज्जित होकर मुख पर श्वेत वस्त्र का घूँघट करती है।

यहाँ पर भी हास्य रस में कुटिल विट की नर्मोक्तियों के औचित्य से शृङ्गाराभास का पुट लग गया है। इससे चमत्कार जनक परिपोष मुख्य रस में आ गया है।

श्यामल के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है।

> 'नायक उसके मुखचुम्बन में लगा ही था कि नायिका का दाँत जड़ से उखड़ कर नायक के मुँह में गले तक पहुँच गया। वह खकार कर उसे जैसे तैसे थूक सका।

यहाँ हास्य बीभत्स रस से संयुक्त हुआ है। पर वह लहसुन में सने फूलों के गुच्छे की भाँति अप्रिय हो गया है और इस अनौचित्य से काव्य का चमत्कार तिरोहित हो गया है। वृद्ध स्त्री के चुम्बन में और गले तक आए हुए उखड़े दाँत के थूकने में बीभत्स भाव की ही प्रधानता हो जाती है, हास्य की नहीं।

करुण गत औचित्य—

ग्रन्थकार की अपनी मुनिमत मीमांसा से—

> 'अभिमन्यु का बध उसी समय हुआ था। इस पर सुभद्रा ने 'हे वत्स! हे पुत्र!!' आदि आदि चिल्ला कर अर्जुन के समक्ष ऐसा विलाप किया कि पत्थर भी पिघल उठे। इसे सुन कर सेना के घोड़ों ने रो-रोकर घास खाना त्याग दिया और कानों को नीचा किये वे निश्चल खड़े रहे।

इस पद्यार्थ में कुछ ही समय पहले के प्रिय पुत्र अभिमन्यु के वध से उत्पन्न शोक के स्थायी भाव का वर्णन है। वह पत्थरों तक के हृदय को पिघला देने वाले सुभद्रा के विलाप से प्रतिफलित होकर अर्जुन के हृदय में उद्दीप्त हुआ है। अतः भावोचित व्यापार की योजना हुई है। इतना ही नहीं। घोड़े जैसे पशुओं के हृदय में भी वह संक्रान्त होकर रोना, ग्रास कवलों को छोड़ देना, निश्चल खड़े

रहना आदि अनुभावों द्वारा प्रस्तुत भाव की अनुभूति को और अधिक तीक्ष्ण और गम्भीर बनाता है।

परिमल कवि के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह नहीं है।

'हा शृङ्गार तरंगिणी के कुलगिरि, हा राज चूणामणि, हे सौजन्य के सुधानिधान, हा वैदग्ध्य दुग्ध के उदधि, हा उज्जयिनी के भुजंग, युवतियों के प्रत्यक्ष कंदर्प, सद्बान्धव, कला के चन्द्र, देव तुम कहाँ हो। हमारी प्रतीक्षा करो, हम भी आती हैं।

यहाँ किसी राजा की मृत्यु पर उसके गुणों का स्मरण करते हुए वक्ता में शोक स्थायी भाव की स्थिति दिखाई गई है। विभाव अनुभाव, संचारी भावों द्वारा उसे इस पदवी तक नहीं पहुँचाया गया जोकि उचित था।

रौद्रगत औचित्य—

जैसे नारायण के निम्नलिखित पद्यार्थ में—

'पाण्डवों की सेना में अपनी भुजाओं पर गर्व करने वाला जो जो शस्त्रधारी है। पंचाल वंश में जो कोई भी शिशु युवा अथवा गर्भस्थ है। जिसने भी उस निंदित कर्म को देखा था और मेरे युद्ध में आजाने पर जो भी विपरीत आचरण करता है, मैं उन सब का क्रोधान्ध काल हूँ, भले ही वह स्वयं मृत्यु ही हो।

यहाँ रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध अश्वत्थामा में दिखाया गया है। उसके उचित ही शिशु, युवा और गर्भस्थ तक की क्रूर हत्या कर डालने के उद्यम तक ले जाने वाली अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा द्रोण के वध से उत्पन्न हुए क्रोध एवं वेदना से पीडित उसके मन की स्थिरता सूचित करती है।

प्रवरसेन के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं है।

'हिरण्यकशिपु के रुधिर में सने नृसिंह भगवान के भावों की प्रभा देदीप्यमान हुई तो राक्षस श्री उससे भयविह्वल होकर भाग गई और इसमें अपने वक्षस्थल से नीचे गिरते हुए वस्त्र को भी सभाल न सकी।

यह पद्यार्थ रौद्ररस का है। पर उसके स्थायी भाव क्रोध की व्यंजना करने वाले व्यापारों का इसमें अभाव है। वास्तव में यहाँ थोड़ा सा तो वीभत्सरस है और व्याकुल होकर राक्षसश्री के भागने में भयानक रस का उसके साथ संकर है। प्रकृत रस जो रौद्र था उसका कहीं मुँह भी नहीं दिखाई देता। औचित्य उसी को पुष्टि में था।

वीरगत औचित्य —

जैसे ग्रन्थकार की स्वरचित 'नीतिलता' के निम्न लिखित पद्यार्थ में।

'ये वही राम है जिन्होंने शौर्य से भर्ग की आराधना करने वाले, मर्यादा के विपरीत शस्त्र ग्रहण करने के व्यसनी परशुराम की क्षत्रियोचित संहारकारिणी तीक्ष्णता को थोड़े में ही रोक दिया था; जिन्होंने कान तक धनुष को खींचकर तथा उस पर अपने कुटिल भ्रूभंग डाल कर अन्याय का निषेध किया था और भार्गव को शान्ति पूर्ण ब्राह्मी स्थिति का संकेत किया था।

इसमें तोता और मैना रावण को दूर से राम का संकेत देती हैं। उनकी क्रोध रहित गंभीर आकृति से जैसा प्रभाव प्रतीत होता है उसी के उचित प्रताप की व्यंजना मर्यादा के विपरीत शस्त्र ग्रहण करने वाले भार्गव को ब्रह्म वृत्ति का उपदेश देने से हुई है। राम का भ्रूभंग भी चापभंग के प्रसंग से हुआ। स्वाभाविक रूप में नहीं। वीरका क्रोध में भी विकार उचित नहीं। उसकी तो वृत्ति प्रसन्न, मधुर और धीर होती है। यहाँ उसी के उचित व्यापारों की योजना है। भार्गव के दमन द्वारा भी राम के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति की गई है।

अथवा राजशेखर का नीचे लिखा पद्यार्थ देखिये :—

> 'हे लंकेश, घूमती हुई गदा के आघात से संज्ञाहीन होकर तुम जिस सहस्रार्जुन के वश में हो गये थे और स्त्रियां के बीच में पशु की भाँति वध्य बन गये थे, उसकी भुजाओं को काटने वाले परशुराम को जिसने जीत लिया और ब्राह्मण समझकर मारा नहीं वही राम तापस वेष में यहाँ आये हैं।

यहाँ रावण, सहस्त्रार्जुन तथा परशुराम के शौर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाकर प्रधान नायक राम का प्रताप उच्चतम व्यंजित किया है।

भवभूति के इस पद्यार्थ में वैसा औचित्य नहीं।

'बड़े लोगों के चरित पर टीका टिप्पणी करना ठीक नहीं, युद्ध होने दो। स्त्री ताड़का का दमन करने पर भी उनका यश अखंडित बना रहा और वे महान ही रहे। वे खर राक्षस के साथ युद्ध करने में जो तीन कदम पीछे हटे थे, अथवा मेघनाद के वध में जिस कौशल का उन्होंने प्रयोग किया था, वह सब लोग जानते हैं।

यह पद्यार्थ 'उत्तर रामचरित' का है। गौणपात्र लव के वीर भाव का उद्दीपन दूसरों के प्रताप की असहिष्णुता के द्वारा यहाँ किया गया है। पर उससे प्रधान नायक राम के वीर भाव का उसके स्त्री वध, खर के युद्ध से अपसरण, सुग्रीव के साथ युद्ध करते हुए बालि का छल से वध करना आदि लोकापवादों का स्मरण कराकर कवि ने विनाश कर दिया है अतः यह वस्तु योजना अनुचित है।

भयानक रस में औचित्य—

जैसे श्री हर्ष के इस पद्यार्थ में देखिये—

'यह बन्दर अस्तबल से भाग कर राजगृह में घुस रहा है। अधकटी सोने की सांकल इसके गले में लटक कर घिसट रही है। द्वारों को उलांघता है तो हेला से उछलते समय चलायमान चरणों की किंकिणियों का समूह बज उठता है। अंगनायें आतंकित हो गई हैं। सईस लोग संभ्रम के साथ उसके पीछे दौड़ रहे हैं।

तथा—

'हिजड़े लोग लज्जा न करते हुए भाग गए क्योंकि उनकी तो मनुष्यों में गणना ही नहीं थी। वामन लोग अपने आकार का लाभ उठाकर कंचुकियों के कंचुकों के अन्दर घुस रहे हैं। किरात लोग, जैसा कि उनका नाम है, दूर किनारों पर जा खड़े हुए हैं और कुबड़ियां धीरे से नीचे-नीचे जा रही हैं कि कोई देख न ले।

इसमें भयानक रस है। उसके अनुरूप ही बंदरों के तीखे दाँत और नखों की खसोटन से स्त्रियों का आतंकित होना, अन्तःपुर के वृद्ध कंचुकी, वामन, किरात, कुब्जा आदि का पुरुषों में गिनती न होने से थोड़े भय से भी संभ्रान्त एवं भयभीत होकर भाग पड़ना आदि ऐसी चेष्टाओं का वर्णन हुआ है जो प्रकृत भाव के अनुरूप होने से रुचिर हैं। फलतः यहा औचित्य विद्यमान है। राजपुत्र मुक्तापीड के इस पद्यार्थ में वह औचित्य नहीं है :—

'जिसे कोमल मोथे के मूठों के कौर खिला-खिलाकर बड़ा किया और शिशुकाल में जिसने होम से बचे जल को कमल के पत्तों के दोनों में भरभर कर पिया था वही हाथी जब युवा होकर मदमंथर हुआ और भौरों का समूह उसके गंडस्थल पर चक्कर काटने लगा तो तपस्वी दूर बैठकर उसे आनन्द और भय के साथ देखता है।

यहाँ हाथी की किसी आघात कारिणी विकृत चेष्टा का उल्लेख नहीं हुआ। स्थायी भाव भय का बिना अनुभावों के केवल नाममात्र का निर्देश है। फलतः भयानक रस के उचित घबराहट का अभाव है। अतः यहाँ औचित्य की पुष्टि नहीं दीखती।

वीभत्स रस में औचित्य

ग्रन्थकार की अपनी मुनिमत मीमांसा के यह उदाहरण देखिए :—

'यह शरीर सब तरह के अपायों का घर है और बुराइयों का खजाना है। इसे तरह-तरह के भूषण, वस्त्र और आनन्ददायी चन्दनादि से सजाने में क्या लाभ होगा। इसके भीतर तो विष्ठा, यकृत कीड़ों का समूह और आतों का जाल भरा हुआ है और वह सदा मूत्रादि से गीला रहता है। अंत में एक दिन कुत्ते और कौवे भी मुँह फेर कर इसे छोड़ जाते हैं।

यहाँ वैराग्य भावना से उत्पन्न वीभत्सरस का वर्णन है। स्थायीभाव है जुगुप्सा। उसी के अनुरूप शरीर में विष्ठा, आंत आदि का वर्णन कर उसके प्रति निरर्थक देहाभिमान का वैरस्य व्यंजित किया है। वर्ण्य सामग्री भाव के उचित ही है।

चन्दन के नीचे लिखे पद्यार्थ में वह तत्त्व नहीं प्रतीत होता।

'यह कुत्ता कृश है, काना और लंगड़ा है। कान और पूंछ भी इसके नहीं हैं। भूख से सूखकर रूखा बन गया है।

किसी कंकाल के कपाल को चबाने से इसका गला भी दूख उठा है। पीव बहते और कीड़ों से किलकिलाये घावों से सारा शरीरआवृत है। फिर भी यह कुतिया के पीछे भाग रहा है। यह कामदेव भी 'मरे का मारा' है।

यहाँ कुत्ते के शरीर में अनेक घृणित कुत्साओं का प्रदर्शन हुआ है। पर वह तो स्वभाव से ही घृणित योनिका है और अशुचि पदार्थों के खाने में उसकी रुचि है। फिर इस प्रकार अत्यधिक निर्बंध के साथ वीभत्स विशेषणों का वर्णन करने से किस बात की व्यंजना हुई ? ये ही सब यदि पुरुषगत होतीं तो जुगुप्सा में गौरव होता।

अद्भुतगत औचित्य

कवि चन्दक का निम्नलिखित पद्यार्थ उदाहरण है :—

'माँ, आज कृष्ण खेलने गया तो इसने अपने आप मिट्टी खाई थी।' 'क्या कृष्ण यह सच है ?' 'किसने बताया है ?' 'बलदेव ने।' 'माँ, बिल्कुल झूठ है।' मेरा मुँह देख ले। 'अच्छा मुँह खोल।' इस पर श्रीकृष्ण ने जब मुँह फाड़कर दिखाया तो माता उसमें समस्त जगती को देखकर हक्की-बक्की हो गई। वे केसव हम सब की रक्षा करें।

इस पद्यार्थ में पांडु रंग के हाथों के सादृय से उन पर मिट्टी खाने का आक्षेप लगा है। उन्होंने भय चकित होकर अपना मुँह खोल कर जो दिखाया तो माता उसमें समस्त जगती का दर्शन कर वात्सल्य विह्वल और विस्मय चकित हो गई। वह भगवान् के प्रभाव की तो अनभिज्ञ थी। अतः यहाँ अद्भुत रस का परिपोष उचित ही हुआ है।

ग्रन्थकार की अपनी मुनिमत मीमांसा के इस पद्यार्थ में यह तत्व नहीं है [१]

अपार समुद्र समस्त आश्चर्यों का घर है। उससे अधिक आश्चर्य यह है कि उस सारे को एक मुनि पी गये और इस आश्चर्य का कहना ही क्या कि वे मुनि एक छोटे घड़े से उत्पन्न हुए थे। संसार तेरी आश्चर्यमयता की माप कौन कर सकता है।

१—अपनी ही रचना में दोष दिखानेवाले क्षेमेन्द्र की उदार दृष्टि प्रशंसनीय है।

इसमें अपार समुद्र का प्रभाव, उसको अगस्त्य मुनि का एक चुल्लू में पी जाना, मुनि का फिर एक छोटे घड़े मे जन्म होना आदि घटनाओं द्वारा विलक्षण विस्मय से अद्भुत रस क्रमशः चढ़ता गया है। पर अन्त में 'संसार ऐसे ही आश्चर्यों से भरा हुआ है तो उक्त घटनायें कोई अद्भुत नहीं सिद्ध होतीं। इस भाव का अर्थान्तरन्यास दिखाया है। इससे ऊपर का भाव उतर सा गया और उत्कर्ष तिरोभूत हो गया।

शान्त रस में औचित्य

ग्रन्थकार के 'चतुर्वर्ग संग्रह' के नीचे लिखे पद्यार्थ में यह विद्यमान है:—

> 'भोग में रोग का भय है, सुख में क्षय का, वित्त में अग्नि और राजा का, सेवा में स्वामी का, गुणों में खलों का तथा वंश में बुरी स्त्री का। इसी प्रकार मान में ग्लानि का भय है, जय में शत्रु का और शरीर में मृत्यु का। फलतः सभी भय से भरे हैं। कोई निर्भय वस्तु है तो वह वैराग्य है।

यहाँ प्राणिमात्र के जो भोग, सुख वित्तादि हैं उन्हें भयदूषित दिखाकर हेय बताया गया है और वैराग्य को समस्त भयों का शमन-कारक व्यंजित कर उपादेय दिखाया है। इससे शान्त रस के निर्भीक और स्वच्छन्द रूप का उपदेश अभिव्यंजित होता है। वर्ण्य की योजना प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है।

इसी प्रकार ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' के इस पद्य में औचित्य है:

> लालसा यह है कि—अहि हो या हार, बलवान शत्रु हो या मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, फूलों की शय्या हो अथवा पत्थर की शिला, तृण हो अथवा प्रमदायें, सर्वत्र समान भावना से मेरे दिन बीते और किसी पवित्र बन में 'शिव, शिव, शिव' का प्रलाप करता रहूँ।

यहाँ जीवन्मुक्त पुरुष के उचित ही प्रिय, अप्रिय, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों का उपशम करनेवाला मोक्षोपयोगी साम्यभाव अहि-हार शत्रु-मित्र आदि पर समान दृष्टि द्वारा अभिहित हुआ है। पर पुण्यारण्य की जो उल्लेख है वह भेद बुद्धि का प्रतिपादक और उपर्युक्त अभेद भावना का विरोधी है। अतः अनुचित है। जब साम्यभाव धारा-धिरूढ़ हो जाता है तो उससे भेदाभिमान की ग्रन्थि विगलित हो जाती है और सब वस्तुयें शिवमय प्रतीत होती हैं। निर्मल आत्म-

लाभ से तृप्त ऐसे मुमुक्षु की तपोवन और नगर के घूरे में समान दृष्टि हो जाती है। फिर पुण्यारण्य की बात कहना अनुचित है।

रस की संसृष्टि और संकर में औचित्य

(१७) का०—मधुर तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है इसी प्रकार शृङ्गार आदि रसों को आपस में एक दूसरे से मिलाने पर विलक्षण रसानुभूति होती है। उनके इस परस्पर मिलने में कवि को औचित्य की रक्षा करनी चाहिए। अनौचित्य का तनिक भी अंश आ जाने से वह रस-संकर प्रिय नहीं रह जाता।

वृ० चतुर रसोइया चटनी या पना आदि के बनाने में जब मीठे, चरपरे, खट्टे, तुनखरे आदि रसों का चतुरता से संयोजन करता है तो वे विचित्र आस्वाद को जन्म देते हैं। इसी प्रकार अविरुद्ध शृङ्गार आदि रस भी मिलकर विलक्षण रसनीय बन जाते हैं। इनकी अंगांगि-भाव-योजना में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। वही उसका जीवित है। अनौचित्य की थोड़ी सी धूल भी उसमें पड़ गई तो वह विरस हो जाएगा।

शान्त और शृङ्गार रस के संकर में औचित्य

का दर्शन भगवान व्यास के निम्नलिखित पद्यार्थ में कीजिये—

'सचमुच तरुणियाँ मनोरम हैं और विभूतियाँ भी बड़ी रम्य हैं। पर जीवन तो इतना चंचल है जितना कि मत्त अंगना की अपांगभंगी।

यहाँ पर प्राणि मात्र के हित का ध्यान रखने वाले भगवान व्यास मोक्षोपयोगी शान्त रस का उपदेश देना चाहते हैं। पर रागी जनों को वह अभीष्ट नहीं है। इसलिए गुडजिह्विका न्याय[1] से उनका मन प्रसन्न रखने के लिए शान्त को शृङ्गार का अङ्ग बना दिया गया है। पर अन्त में जीवन को चंचल बताकर उसकी अनित्यता का संकेत भी उन्होंने कर दिया है। और शान्त रस को ही श्रेष्ठता प्रदान की है।

१—मीठा खिलाते-खिलाते बालक के कान छेद दिए जाते हैं। इसे गुडजिह्विका कहा जाता है।

वीभत्स और शृङ्गार के अंगांगिभाव का उदाहरण ग्रन्थकार की 'बौद्धावदान कल्पलता' का नीचे लिखा पद्यार्थ है।

> 'युवा शव नपुंसक की भाँति अचल होकर पड़ा है। शृगाली रुधिर की कामना से कामातुर सी आसक्त हो उसके गले से लगी है और नखनों की खरोंच की रेखायें बना देती है। दाँतों का व्रणांक दे देकर उसके अधर का बारबार आस्वादन करती है। इस प्रकार मरन क्रिया में संलग्न सी वह उसके अङ्गछेदन में (अनङ्ग क्रिया) व्यग्र बनी अपने रभसोत्कर्ष को व्यक्त करती है।

यहाँ शुद्ध स्थल में युवा शव का भक्षण करती हुई शृगाली का वर्णन है। श्लेषोपमा अलंकार द्वारा उसे कामाविष्ट युवती जैसा चित्रित किया है। शृङ्गार और वीभत्स दो परस्पर विरुद्ध रस समान बल होकर यहाँ मिले हैं। तरुण शव क्लीब की भाँति निश्चेष्ट पड़ा है और मुग्ध होकर शृगाली युवती की भाँति उसके कंठ से लगी है। अनुरक्त कामातुर रमणी की भाँति वह शोणित की अत्यन्त इच्छुक है। अपने नखों के चिह्न शव पर बना रही है। अपने दाँतों के व्रण बनाती हुई बार बार उसके अधर का आस्वादन करती है और अंग छेदन क्रिया में ऐसी लग्न है जैसी रति क्रिया में। अपने शरीर को बार बार ऊपर उठाती है। यहाँ कामिनी और शृगाली की चेष्टायें समान हैं। इसलिए वीभत्स और शृङ्गार भी समान बल हैं। पर उन चेष्टाओं का वाक्य में कर्ता शृगाली है अतः वीभत्स मुख्य है और शृंगार गौण। इसके वक्ता भी बोधिसत्व है जो वैराग्य वासना से युक्त हैं। फलस्वरूप कुत्सित की जुगुप्सा दिखाकर नितंबिनी रति की बिडम्बना की व्यंजना होती है। भावों के संयोजन में रुचिर औचित्य है। समस्त ग्रन्थ में तो शान्तरस का ही प्राधान्य है पर इस श्लोक के वाक्य में वीभत्स की मुख्यता है।

वीर और करुण के संकरौचित्य का उदाहरण ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का यह पद्यार्थ है।

> नवोदित यौवनकाल में ही अभिमन्यु का वध किया गया तो अर्जुन शोक संतप्त हो गए और जयद्रथ के वध रूपी अभिचार यज्ञ में वे लग गये। उनका गाण्डीव स्रुवा बनने लगा। अश्रु जल में स्नान कर खाण्डव वन की अग्नि

से भी अधिक दारुण शोकाग्नि को उन्होंने धारण किया।
'हा वत्स' 'हा वत्स' के मन्त्र वे जपते जाते थे।

अर्जुन त्रिगर्तों के संग्राम में गया था। पीछे शत्रुओं ने यौवनोदय काल में ही अभिमन्यु का बध कर दिया। इस पर अर्जुन ने अपने अश्रुजल में स्नान कर पुत्र शोक की अग्नि को अंतर में धारण कर तथा गाण्डीव को स्रुवा के समान मांजकर जयद्रथ के बध का अभिचार-यज्ञ प्रारंभ किया जिसमें जय का मंत्र था, 'हा पुत्र, हा वत्स' आदि शब्द। इसमें शत्रु-क्षय के लिए दीक्षा के तुल्य व्रत लेने, खाण्डव पद का निर्देश करने एवं शोकाग्नि को प्रचंड बताने से अंगी वीररस की व्यंजना होती है। करुण रस मध्य में सहसा आ गया है। पर अन्त में जयद्रथ-बध के अभिचार का उल्लेख होने से शौर्य का ही निर्वाह है। अतः भावों के बलाबल का बड़ा अच्छा औचित्य यहाँ विद्यमान है। उसी ग्रन्थ में शान्त, शृंगार, करुण और बीभत्स के संकरौचित्य का उदाहरण जैसेः—

> 'देखो, मन्द पुरुषों के हृदय स्त्रियों के तीक्ष्ण कटाक्षों से क्षत एवं संसार के रागी बनकर क्रोध आदि क्रूर रोगों के असंख्य घावों की तीव्र व्यथा वे व्यथित रहते हैं। कृमियों की भाँति अपने अंग से ही उत्पन्न हुए पुत्रादि उन्हें स्नेह के कारण चिपट कर खाए डालते हैं। सांसारिक क्लेशों की शय्या पर पड़े हुए वे अनेक कष्ट भोगते हैं।

यहाँ अंगी रस है शान्त। उसी के उद्दीपन के रूप में स्त्रियों के कटाक्षों से हृदय के क्षत होने, व्यथा पीड़ित बनने तथा पुत्रों की स्नेह लग्न कृमियों से समता देने आदि का गौण रूप से वर्णन है। ये भाव शान्त रस के ही मुखापेक्षी हैं। सेवकों की भाँति उनकी वृत्ति सीमित है। इस प्रकार भाव-योजना में परम औचित्य के दर्शन होते हैं।

अब आगे ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें रसगत औचित्य नहीं मिलता। शृंगार और शान्त के संकर में यह अमरुक कवि का पद्यार्थ है।:—

> 'यदि जाना निश्चित ही है तो चले जाना, शीघ्रता क्या है। दो तीन कदम चलकर खड़े हो जाइये, जबतक मैं तुम्हारा मुँह देखती हूँ। यह जीवन घटी के छेद में से

> बहते हुए पानी के समान है। कौन जानता है, बाद में मेरा तुम्हारा संगम हो या न हो।

इसमें प्रकृत-रस शृङ्गार है। 'जब तक मैं मुँह देखती हूँ।' वाक्य की उत्कण्ठा से उसी का परिपुष्ट भी की गई है। इसका विरोधी शान्त-भाव यहाँ अंग है। पर संसार की अनित्यता के वर्णन से जो वैराग्य प्रतीत होता है उससे रतिभाव तिरस्कृत हो जाता है और उससे बड़ा अनौचित्य आ जाता है। संसार की असारता एवं अवारता के श्रवण से कठोर चित्त लोगों का भी उत्साह भंग और उदासीनता हो जाते हैं। पुष्प के समान कोमल चित्त वाले विलासियों का तो फिर कहना ही क्या। अन्त में शान्त-रस का परिपोष दिखाकर यहाँ और भी वैरस्य उत्पन्न हो गया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने यही कहा है :—

> 'कोई भाव विरोधी हो या अविरोधी, अन्य रस के अंगी होने पर उसकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। इसी से अविरोध होता है।'

इसका उलटा उपर्युक्त पद्यार्थ में हो गया है। इसके विपरीत अंगी रस का विरोधी भाव भी यदि परिपुष्ट न हो तो प्रधान का उपरोध नहीं होता। उदाहरण के लिए राजशेखर का निम्नलिखित पद्य लीजिए।

> 'मान छोड़ो। अपने प्रिय पर कटाक्ष पूर्ण दृष्टि डालो। पीन स्तनों का स्तंभनकारी यौवन पाँच या छः दिन ही है।' कोयल के इस मंजुल स्वर के बहाने से चैत्र महोत्सव ने कामदेव की प्रबल आज्ञा मानो दे डाली है।

इस काव्य में मुख्य रस शृंगार है। वही प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है। पर 'यौवन पाँच छः दिन ही है।' इस वाक्य से अनित्यता रूप शान्त रस की बूंद उसके मध्य में गिर गई है। फिर भी वह नीरस नहीं बना क्योंकि विरुद्ध रस का परिपोष नहीं हुआ है। विरुद्ध भाव के वर्णन के अनौचित्य से तो गड्ढे में गिरे हाथी की भाँति प्रधान भाव फिर उठ नहीं सकता। इस प्रकार से रस के संकर स्थल में औचित्य का विचार विद्वानों को करना चाहिए।

रसौचित्य के विचार के अन्तर उद्देशानुसारी क्रम से क्रिया पद के औचित्य को अब दिखाया जाता है :—

क्रियापद औचित्य

(१९) का०—सत्पुरुप की भाँति काव्य के गुण वृत्त (छन्द अथवा व्यवहार) और साधुना तभी अच्छे लगते हैं जबकि उसकी क्रिया उचित हो।

वृ०—क्रियापद यदि औचित्यपूर्ण होता है तो काव्य के माधुर्य आदि गुण, वसन्त तिलका आदि छन्द और साधुता उसी प्रकार अच्छे लगते हैं जिस प्रकार श्रेष्ठ कर्म करने से सत्पुरुष के विनय आदि गुण, व्यवहार और साधुता (भलमनसाहत) आदि अच्छे लगते हैं। क्रियापद के औचित्य का उदाहरण ग्रन्थकार की अपनी नीतिलता पुस्तक का यह पद्यार्थ है :—

> 'जो सात समुद्रों पर सन्ध्यार्चन करने के कारण अपने वेग के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें अपने बाहुदर्प से दुन्दुभि राक्षस का शरीर ककाल बना दिया था, मायावी दानव को पोसकर जिसने पाताल को रुधिर से भर दिया था, वह सुग्रीव की अच्छी से अच्छी संपत्ति को लूट लेने वाला बाली क्या तुम्हें याद है ?'

इसमें शुक और सारिका रावण को दुर्नय के मार्ग से हटाने के लिए उपदेश दे रहे हैं। यहाँ 'क्या तुम्हें स्मरण है' इस क्रियापद से 'आप भी वस्त्र के एक छोर में बाँधकर बगल में रख लिये थे' यह तथ्य उचित रूप से व्यक्त हो जाता है।

श्रीप्रवरसेन के इस पद्याथ में यह औचित्य नहीं मिलता :—

> 'समुद्र मंथन से पहले बिना पारिजात का स्वर्ग, कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से शून्य विष्णु के वृक्षस्थल और बाल चन्द्रमा से शून्य शिव के जटाभार का मैं स्मरण करता हूँ।'

यह उक्ति जाम्बुवान की है और प्रकृष्ट गुणों के कथन का यह प्रसंग है। पर क्रियापद से शरीर के केवल जटाजर्जरित होने की व्यंजना हुई है। पौरुष के उत्कर्ष का उल्लेख जो उचित था, वर्णित नहीं हुआ।

कारक का औचित्य

(२०) का०—जैसे कुल का आभरण ऐश्वर्य उदारचरितों से शोभायमान होता है उसी प्रकार उचित कारकों से सान्वय बना वाक्य

शोभा पाता है। कर्तृपद का औचित्य भट्टबाण के इस पद्यार्थ में देखिये :—

'राजन्, तुम्हारी रिपु स्त्रियों का स्तन युगल अश्रु स्नात होकर, हृदय की शोकाग्नि के समीप में बैठकर और विमुक्ताहार (आहार छोड़कर तथा मोतियों के हार से शून्य बनकर) बनकर व्रतसा करता है।'

वृ०—यहाँ कहना यह था कि शत्रु स्त्रियाँ व्रत करती हैं पर उसके स्थान पर 'स्तनयुग ही वाष्पसलिल में स्नान कर शोकाग्नि का समीपवर्ती बनकर और आहार या हार त्यागकर व्रत करता है' यह कहा गया है। इसमें कर्तृपद का विलक्षण प्रयोग है और उससे औचित्य की वृद्धि होती है।'

परिमल कवि के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है :—

'हे मालवसिंह, गुर्जरपति न भोजन करता है न जल पीता है। स्त्रियों का सेवन उसने छोड़ दिया है। अन्य विषयों का भी त्यागकर वह बालू पर सोता है और प्रचण्ड धूप का सेवन करता है। मानों यह सब तुम्हारे चरण कमलों के धूलि-कणों का प्रसाद पाने के लिये करता है।'

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि गुर्जरपति भागकर मरुस्थल में चला गया है। उसने आहारादि सब छोड़ दिये हैं और प्रचण्ड धूप का सेवन करते हुए वह तपश्चर्या करता है। इसमें तथ्य निवेदन सा लगता है। इस प्रकार यहाँ कर्ता का प्रयोग नहीं हुआ कि कुछ विशेष अभिप्राय के उचित प्रतीत होता। शत्रु के भय से डरकर मरुवनों में घूमते हुए, विषय भोग परिभ्रष्ट वह और क्या करता? स्तनयुग को कर्ता बनाकर औचित्य का जैसा प्रकर्ष पहले पद्यार्थ में विद्यमान है वैसा इसमें नहीं है।

कर्मपद का औचित्य

ग्रन्थकार की 'लावण्यवती' पुस्तक के अधोदत्त पद्यार्थ से दिखाई देता है—

'हे राजन्, तुम्हारी तलवार में स्वच्छ धार[1] का शैत्य[2]।

१—पद्य में श्लेष के द्वारा तलवार के गुणों के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिससे उसमें अपने गुणो के अतिरिक्त ठण्डेपन की भी प्रतीति है। अतः चिह्नित शब्द द्विअर्थक हैं—धार = तलवार का काटने वाला पैना भाग और जल का बहाव।

२—शैत्य पैना पन और ठंडक।

वर्तमान है, वह बादलों जैसा चमकता है और क्ष्माभृतों[1] के बड़े-बड़े कटकों[2] को गिराता हुआ बहता है। शौर्य के कानों के लिए नूतन कमल पत्रों जैसा वह है। फिर भी आश्चर्य है कि शत्रु के लिए जलती आग का सा संताप देता है।'

इस पद्यार्थ में श्लेष की सहायता से तलवार के गुणों का वर्णन ऐसे द्विअर्थक शब्दों से किया गया है जो एक ओर तो उसके पैनेपन आदि गुणों का प्रख्यापन करते हैं दूसरी ओर उसमें जल के ठंडक बहना आदि गुणों का संकेत देते चलते हैं। अतः आपाततः तलवार शीतल है यह प्रतीत ह ता है फिर भी वह शत्रुओं को संताप देती है यह आश्चर्य जनक वैचित्र्य है। शीतल सामग्री से संताप जैसे गर्म पदार्थ का जन्म होता है यह रुचिर औचित्य इससे आया।

यही बात ग्रन्थकार के अपने 'अवसर सार' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में नहीं है।

'हे भुवननाथ, अग्नि जैसा आपका प्रताप भगोड़े शत्रुओं की श्वासों से बढ़कर और काष्ठाश्रयण (दिशाओं में फैलना और लकड़ी का सहारा लेना) से और भी द्विगुणित होकर मारे गये शत्रुओं की स्त्रियों को संताप देता है।'

यहाँ राजा का प्रताप भागने वाले शत्रुओं के श्वासानिल से प्रज्वलित होता है और दिशाओं में फैलकर ईंधन से प्रदीप्त अग्नि की भाँति प्रौढ़ बनता है। वही फिर शत्रु कान्ताओं को संताप देता है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यहाँ रुचिर औचित्य कुछ भी नहीं है।

करणकारक का औचित्य

गौड कुम्भकार कवि के नीचे लिखे पद्यार्थ में दिखाई पड़ता है।

'हनुमान बानर ने समुद्र लंघन के समय अपनी पूँछ से सूर्य का घेरा बाँध दिया, सिर से चन्द्रमा को छू डाला, सटाओं से बादलों को कपा दिया और डाढ़ों से तारों को उखाड़ लिया। देखते ही देखते वह समुद्र को लांघ

१—क्ष्मामृत राजा और पर्वत।

२—कटक—सेना और शिलायें।

गया। उसके निर्मुक्त अट्टहास की उर्मियों से लंकेश का बढ़ा-चढ़ा प्रतापानल शान्त हो गया।'

यहाँ बताया गया है कि हनुमान ने समुद्र लंघन के समय अपनी पूँछ से सूर्य का घेरा बाँध दिया, मौलि से चन्द्रमा का स्पर्श किया, सटाओं से बादलों को कंपाया, दाढ़ों से तारों को उखाड़ दिया और अट्टहास की तरंगों से रावण की प्रतापाग्नि को शान्त कर दिया। इसमें करण कारक अनेक हैं। इनसे हनुमान के उत्साह की द्योतना होती है। विस्मयानुभूति के शिखर पर चढ़ने के वे सोपान से बन जाते हैं। फलस्वरूप श्रीराम के विजय की ध्वजा के समान हनुमान का औचित्यातिशय इससे प्रकट होता है।

बाण भट्ट के इस पद्यार्थ में इस प्रकार का औचित्य नहीं मिलता।

> 'नृसिंह भगवान की जय हो जिन्होंने भेदन करने की इच्छा से शत्रु के वक्षस्थल पर जो कोपारुण दृष्टि क्षण भर के लिए डाली तो उसे ऐसा बना दिया कि मानो वह भय से ही फट गया हो।'

इसमें बताया गया है कि नृसिंह भगवान की क्षण भर की कोपारुण दृष्टि से हिरण्यकशिपु का वक्षस्थल स्वयं मानों भय से फट गया। यहाँ प्रधान नायक नृसिंह भगवान् है। प्रति नायक है हिरण्यकशिपु। उसे उत्साही पराक्रमी और धैर्यशील दिखाने से ही प्रधान नायक के प्रतापोद्दीपन के लिए उपकरण का लाभ हो सकता है। 'भय मात्र से ही वह फट गया' ऐसा कहने से हिरण्यकशिपु की दुर्बलता द्वारा नृसिंह भगवान् की दृष्टि का महत्व कम हो जाता है। यह अनौचित्य करण कारक से संबन्धित है।

सम्प्रदान गत औचित्य

भट्टप्रभाकर के इस श्लोकार्थ में विद्यमान है।

> 'दिग्गजों तक फैली पृथ्वी की साध सभी करते हैं। यह कहते हम रोमांचित हो जाते हैं कि परशुराम ने उसी पृथ्वी को सिद्ध कर लेने के बाद एक ब्राह्मण को दान में दे डाला। उन्हें प्रणाम है। यह अद्भुत कथा जहाँ से प्रादुर्भूत हुई उसी में अस्त हो गई।'

विस्तृत पृथ्वी को प्राप्त करने की सब साध करते हैं। परशुराम ने उसे सिद्ध कर अन्न मुष्टि की भाँति क्रीडा सी में एक ब्राह्मण को दान कर दिया। इस निरतिशय औदार्य के आश्चर्य चमत्कार से रुचिर औचित्य का जन्म होता है जिसका अनुभव करते हुए हम भी रोमांचित हो जाते हैं। और क्या उन महात्यागी भार्गव को प्रणाम है। इस वाक्यार्थ में ब्राह्मण को यह एक बचन के सम्प्रदान में चमत्कार के विशेष उत्कर्ष की प्रतीति है।

राजशेखर के इस पद्यार्थ में वैसी बात नहीं।

> 'पौलस्त्य प्रेम के साथ याचना करते हैं। यह सुनकर मन प्रसन्न होता है। परन्तु शिव से प्रसाद में प्राप्त हुआ यह परशु देने की वस्तु नहीं, इससे बहुत खेद होता है। इसलिए हमारी ओर से दशानन को कहना कि हमने ब्राह्मणों को तो पृथ्वी दे डाली। अब आकाश और पाताल में से जीतकर उन्हें क्या प्रदान किया जाय 'कहें।'

रावण का दूत उसके लिए भार्गव से परशु माँगता है। इस पर वे उत्तर देते हैं कि शिवजी से प्रसाद में प्राप्त हुआ यह परशु देने योग्य नहीं है। इसलिए हमारी ओर से दशानन को कहना कि पृथ्वी तो हमने कश्यप को दान करदी। तुम्हें आकाश पाताल में से क्या चीज जीतकर प्रदार की जाय। इसमें लोकहित में प्रवृत्त मुनि का त्रिलोकी के लिए कंटक भूत रावण को इतना बड़ा दान देना अनुचित है।

अपादन गत औचित्य

मालव रुद्र के निम्नलिखित पद्यार्थ में देखिए :—

> 'बादल इस समुद्र से ही जल की कुछ परिमित कणिकायें लेकर आकाश को घेर लेते हैं और पृथ्वी को जलाप्लावित कर देते हैं। विष्णु भी इसीमें घूमते हुए मन्दराचल के शिखरों के परस्पर संघर्षण को देखकर भयभीत नेत्रों वाली एक जल मानुषी को प्राप्त कर श्रीमान बन गए।'

जैसा कि पद्यार्थ में कहा गया है, इस समुद्र से कुछ परिमित कणिकाओं को प्राप्त कर बादल संसार भर को जल से भर देते हैं और इसी से समुद्र मंथन के समय घूमते हुए मन्दराचल के शिखरों के संघर्षण से भयभीत बनी एक जल-मानुषी को लेकर विष्णु श्रीमान बन गए। इससे सागर के उत्कर्ष की व्यंचना होती है। इस

औचित्य की मूल भूमि है, 'इस समुद्र से' इतना अपादान कारकान्त पद।

महेन्दुराज के निम्नलिखित पद्यार्थ में अपादान कारक में अनौचित्य प्रतीत होता है :—

'इस महार्णव ने चारों ओर की नदियों के मुँह से जल लेकर क्या किया ? उसे खारा बनाया, वडवाग्नि में जलाया और पाताल की गहरी गुफा में छिपा लिया।'

यहाँ महार्णव के बहाने से अन्याय से धन एकत्र कर बुरी भाँति व्यय करने वाले तथा सत्कार्यों में धन व्यय न करने वाले किसी व्यक्ति का वर्णन है। नदियों के मुँह से जल एकत्र कर अपात्रों को उसे दे डालने के दोष का उल्लेख है। 'पर नदियों से' यही कहना उचित था उसके स्थान पर नदियों के मुख को अपादान बनाने में मुख शब्द निरर्थक हो जाता है। अतः अपादान-कारक गत अनौचित्य यहाँ विद्यमान है।

अधिकरण कारक का औचित्य

कालिदास के कुन्तेश्वर दौत्य ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में मिलता है।

'यहाँ पर्वतों का मूर्धन्य मेरु निवास करता है, यहीं पर सातों समुन्द्र अपना अपना भार रखे हुए हैं। यह धरणितल शेषनाग के फण के स्तंभों पर विराजमान है। हमारे जैसों का यहीं स्थान उचित है।

किसी महाराज का दूत उसके सामन्त के यहाँ गया। वहाँ उसने अपने स्वामी के समुचित पूजार्ह स्थान पाया। फिर कभी कार्य-वश भूमि पर ही बैठना पड़ा तो अपने गौरव की रक्षा करता हुआ प्रगल्भता के साथ कहता है कि हमारे जैसों के लिए शेष नाग के फणों पर स्थित अतः अडिग पृथ्वी पर ही उचित आसन हो सकता है। यहीं पर सातों समुद्र तथा मेरुपर्वत स्थित है। उन्हीं के तुल्य हम हैं। यह भाव का औचित्य अधिकरण कारकगत औचित्य से सम्बद्ध है।

परिमल के निम्नलिखित पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं है।

'हे देव, आपका भृत्य मैं चकित चित्त होकर इतने दिन वहाँ ठहरा जहाँ आपका प्रताप सुन्दरियों के कंपायमान स्तन तटों पर हारों को चलायमान कर देता है।'

इसमें कहा गया है कि मैं आपका सेवक उस देश में ठहरा जहाँ आपका प्रतापसुन्दरियों के कांपते हुए स्तनों पर हारों को चलायमान बना देता है, इस कथन से शौर्य और शृङ्गार का गुणोत्कर्ष वर्णनीय है पर अधिकरण कारक के प्रयोग से सर्वत्र दिशाओं में फैलने वाले प्रताप को सीमित कर दिया गया। इससे व्यंग्यार्थ यही आता है कि वह सेवक किसी एक सीमित प्रदेश में रहा जहाँ पर उसके स्वामी का प्रताप विद्यमान था अन्यत्र नहीं। यदि राजा का प्रताप सर्वगत है तो 'सर्वत्र ही मे ठहरा' यह कहना चाहिए था। इस पर किसी एक देश का उल्लेख करने से सीमितता आती है। किसी एक स्थान में तो चोर का भी प्रभाव बढ़ा चढ़ा हो सकता है। यह अनौचित्य अधिकरण गत है। कहना यह चाहिये था कि 'मैं वहाँ-वहाँ ठहरा जहाँ-जहाँ आपका प्रताप था'। स्तुति के उचित यही है।

लिंगौचित्य

(२१) का०—जिस प्रकार साम्राज्य सूचक शुभ लक्षणों से शरीर भव्य बन जाता है उसी प्रकार उचित लिंग के शब्दों का प्रयोग करने से काव्य में विशेष चारुता आ जाती है। उचित लिंग से तात्पर्य प्रसंगोचित लिंग के प्रयोग से है। उसी से काव्य भव्य बनता है। जैसे ग्रन्थकार की 'ललितरत्न माला' का यह श्लोकार्थ—

> 'वह निद्रा का स्पर्श भी नहीं करता। धृति को त्याग चुका है। कहीं भी स्थिति नहीं कर पाता। लम्बी कथाओं को व्यथा समझता है। निवृत्ति उसे किसी भी प्रकार से नहीं मिलती। रत्नावली की आराधना करता हुआ उसके गुणस्तव और जप ध्यान में इतना निःसंग हो गया है कि दूसरी अंगना का नाम भी उसे सह्य नहीं।'

यहाँ रत्नावली के वियोग से दुखी उदयन की काम दशा की सूचना विदूषक सुसंगता को दे रहा है। अन्त में कहा गया है कि उसे दूसरी स्त्री का नाम भी सह्य नहीं है। इसके लिये निद्रा, धृति, स्थिति, दीर्घ कथा निवृति आदि जिन-जिन वस्तुओं का उसने त्याग किया है वे सभी स्त्रीलिंग में है। इनमें स्त्रीत्व का अध्यारोप किया जा सकता है। फलतः हेय वस्तुओं के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग यहाँ अत्यन्त समुचित है।

उन्हीं की 'नीतिलता' के नीचे लिखे पद्यार्थ में उक्त औचित्य विद्यमान नहीं है :—

> 'वरुण से रण लेने में समर्थ, स्वर्ग का भंग कर देने से कृतार्थ, यमराज के नियंत्रण में सक्षम, वायु को उखाड़ फैंकने में संलग्न, कुबेर की मृत्यु तक कर देने का उद्यत तथा अग्नि के दलन के लिए प्रचण्ड मेरी भुज-मंडली किसी मानव से लड़ने में लज्जित होती है।'

यहाँ रावण अंगद के तिरस्कार से क्रोधित होकर उसके उचित अपना बलशौर्य प्रकट कर रहा है। 'वरुणादि लोकपालों के बलदर्प का विध्वंस करने वाली मेरी भुजमंडली मानव से लड़ाई करने में लज्जित होती है।' यह उसने कहा है। लज्जा का कारण मानव युद्ध की लघुता है—यह अभिप्रेत है। पर 'भुजमंडली' में स्त्रीलिंग वाचक शब्द रख देने से त्रिलोकी की विजय के कारण उसका प्रताप जो प्रचण्ड बना था उसकी कठोरता जाती रही। अब तो ऐसा लगता है कि भुजमण्डली मानों अपनी कोमलता के कारण लज्जित होती है। वह स्त्री बन गई। इस प्रकार यहाँ लिंगगत अनौचित्य आया।

वचन गत औचित्य

(२२) का०—काव्य में चारुता उचित बचनों के प्रयोग से आती है जैसे अदीन और उदार अन्तःकरण वाले विद्वानों के मुख उचितबचनों के प्रयोग से शोभायमान होते हैं। वृ०—जिस प्रकार विद्वान का मुख याचना रहित, उचित सुन्दर एवं प्रिय शब्दों का प्रयोग करने से अच्छा लगता है उसी प्रकार काव्य भी एकवचन, द्विवचन, बहुबचन आदि भाषा बचनों के समुचित प्रयोग से रमणीय बन जाता है। उदाहरण में ग्रंथकार की नीतिलता का यह पद्यार्थ है।

> 'पौलस्त्य ने त्रिलोकी पर अनेक आक्रमण किए हैं; योद्धाओं की अनेक विजय की हैं; असंख्य रत्नों की प्राप्तियाँ की हैं, युद्ध रूपी समुद्र में लक्ष्मी के अनेक स्वयंवर जीते हैं और बली पुरुषों के बहुत से आश्चर्य जनक बंधन किए हैं। इनके लिए वह प्राख्यात है। फलतः एक बार ही के श्रम से निद्रा में डूबने वाले विष्णु पर वह नित्य हँसता है।

वृ०—यहाँ शुक और सारिकायें रघुपति के आगे रावण के पराक्रम का वर्णन कर रहे हैं। शेषशायी विष्णु एक बार के उद्योग के श्रम

से ही निद्रा के आलस्य में आकर समुद्र में आ सोते हैं पर पौलस्त्य त्रिलोकी के अनेक आक्रमणों, विजयी योद्धाओं पर बहुत से विजय, अनेक रत्नों की प्राप्तियां, समर रूपी समुद्र से बहुत बार विजयश्री के स्वयंवरों तथा लोकपाल आदि बलवानों के अनेक बार बन्धन कर लेने के बाद भी सदा जागृत एवं सोत्साह बना रहता है। इसीलिए वह विष्णु पर हँसता है। यहाँ रावण के कार्यों को बहुवचन तथा बिष्णु के कार्यों को एकवचन में कहकर दोनों के भेद का औचित्य व्यक्त किया है।

यही गुण मातृगुप्त के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं मिलता।

> 'स्वामिन, रात्रि के मुख सरोरुह का राजहंस और काश्मीरी तरुणी के कपोलतल के तुल्य शरीर वाला यह चन्द्रमा नहीं है। यह तो आकाश में चमकने वाला दुग्ध सिन्धु के फेनपिण्ड की भाँति श्वेत आपका यश है।'

इसमें कहा गया है कि यह चन्द्रमा नहीं है बल्कि दुग्धाब्धि के फेन पिण्ड की भाँति श्वेत राजा का यश है। यश का प्रचार अनेकत्र होता है, अतः उसका बहुवचन से वर्णन करना चाहिए। एकवचन के प्रयोग से तो यश का स्वरूप चन्द्रपिण्ड के आकार का सीमित हो जाता है।

विशेषणौचित्य

(२३) का०—समुचित विशेषणों से विशेषित होकर काव्यार्थ ऐसा रमणीय हो जाता है जैसा गुणी मित्रों से सज्जन।

वृ०—काव्य के मुख्य अर्थ की शोभा विशेषणों द्वारा ही होती है जैसे गुणोदार सत्पुरुष की शोभा गुणशाली मित्रों से होती है। उदाहरण ग्रन्थकार की मुनिमत मीमांसा का यह पद्यार्थ है।

> 'चैत्र मास के नवीन यौवन भरे उपवन, आमोद-पूर्ण कमलिनी, चाँदनी की चादर ओढ़े रत्नों की अटारियों के महल, रमणीय युवतियाँ यह सब सुन्दर हैं। वे किसे प्रिय नहीं हैं। पर जिसमें इनका भोग होता है वह जीवन तो मिट्टी के कच्चे घड़े जैसा क्षिप्रक्षयी है।'

महाराज युधिष्ठिर को महान् विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं। मय दानव के बनाये हुए मणिमय सभा-भवन पर उन्हें अभिमान भी है।

इस पृष्ठ भूमि में उनके विभव का वर्णन करते हुए समस्त पदार्थों के अभाववाद का उपदेश देने वाले महामुनि व्यास के आशय का इस पद्यार्थ में विचार किया गया है। वसन्त में अपने पूर्ण यौवन के साथ खिले हुए उपवन, मकरन्द की सुगन्ध से परिपूर्ण कमलिनियाँ, चाँदनी में चमकने वाले अट्टालिकाओं वाले महल तथा रमणीय युवतियाँ ये सब सुन्दर हैं तथा सभी को प्रिय हैं। पर जिस जीवन में इनका भोग किया जाता है वह तो मिट्टी के कच्चे घड़े की भाँति निस्सार तथा नश्वर है। यहाँ विशेषणों द्वारा विशेष्यों के उत्कर्ष को बढ़ाया गया है। उससे अन्त में निस्सारता और निर्वेद की व्यंजना करने वाला औचित्य सिद्ध होता है। यही विशेषता भट्टलट्टन के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं हैं।

> 'बड़े-बड़े तालाब संकट में पड़ कर ग्रीष्म ऋतु से द्वेष एवं वर्षा ऋतु की याचना करें। पर समुद्र को इन दोनों का विचार भी नहीं आता। उसकी कोख में मद्राचल छोटी-छोटी मछलियों की भाँति घूमता है और इससे उसके पेट का पानी भी नहीं हिलता।'

यहाँ बताया गया है कि संकट में पड़ कर बड़े-बड़े तालाब वर्षा से द्वेष करते हैं और जलदागम की याचना करते हैं। पर समुद्र इतना महान है कि उसे इन दोनों की कोई चिन्ता नहीं। उसकी तो कुक्षियों का जल चलायमान मन्द्राचल से भी नहीं हिला था। इसमें तालाब के दो 'विशेषण संकट में पड़ कर' तथा 'बड़े-बड़े' परस्पर विपरीत हैं अतः अनुचित हैं। जो संकट ग्रस्त है वह विस्तीर्ण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि कोई तालाब स्वभाव में संकटापन्न तथा आकार में विस्तृत है तो यह बात भी युक्ति संगत नहीं क्योंकि तालाब जैसी निश्चेतन वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता।

उपसर्गौचित्य

(२४) का०—योग्य उपसर्ग के योग से काव्य का अर्थ इसी प्रकार और अधिक बढ़ जाता है जैसे सन्मार्ग के आश्रयण से संपत्ति।

का०—काव्यगत सूक्ति 'उप' आदि उपसर्गों से और अधिक सुचारु बन जाती है। जैसे सन्मार्ग के गमन से विभूति। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का निम्नलिखित पद्यार्थ देखना चाहिए।

'भाग्य विपर्यय हो जाने से जब व्यक्ति सुख के उच्च शिखर से गिर जाता है तो वह अग्नि में गले हुए लोहे की भाँति कर्मण्य बन जाता है। वह आचार का पालन करता है। अभिमान छोड़कर वैराग्य ले लेता है। साथियों का भंग हो जाने से उसका उत्तुङ्ग अभिमान गल जाता है तथा वह तप करना चाहता है।'

घोष यात्रा के अवसर पर गन्धर्व बन्ध के कारण दुर्योधन का अभिमान भग्न हो गया था। वह अपने बढ़े-चढ़े राज्य को छोड़कर तप करने को उद्यत हुआ। उस समय के उसके आग्रह का इसमें वर्णन है। वैभव के नष्ट हो जाने पर सुखभ्रष्ट व्यक्ति सदाचार का पालन, मद का त्याग, वैराग्य का समाश्रयण तथा उत्तुङ्ग अभिमान को गला देने वाला तप आदि सब कुछ करता है। ऐसी दशा में अधिकतर वह गले हुये लोहे के समान कर्मण्य बन जाता है। यहाँ अभिमान को उत्तुङ्ग कहने में जो उत् उपसर्ग का प्रयोग हुआ है उससे तुंग शब्द का स्वाभाविक अर्थ ऊंचा द्विगुणित हो गया और उसके फलस्वरूप मद और अभिमान की अभिव्यक्ति में एक प्रकार का औचित्य आ गया।

कुमार दास के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं मिलता।

'हे नव संगम भीरु सुन्दरि, गाढ़ आलिंगन का त्याग करो। प्रियतम को छोड़ो। अरुण की किरणों का उदय हो चुका है और मुर्गे बोल रहे हैं।

यहाँ पति के नवीन संगम में व्यस्त किसी नायिका को संबोधन दिया जा रहा है। प्रभात संध्या में अरुण उदित हो गया है और मुर्गे बोल रहे हैं। उसमें 'बोल रहे हैं' के लिए 'सम्प्रवदन्ते' क्रिया का प्रयोग है जिसमें 'सम्' और 'प्र' दोनों उपसर्ग निरर्थक हैं।

निपातौचित्य

(२५) का०—उचित स्थानों पर नियुक्त किए गए सचिवों से जैसे राज्य व्यवस्था ठीक हो जाती है उसी प्रकार निपातों का उचित स्थान पर प्रयोग करने से काव्य की अर्थ संगति शोभनतर बन जाती है।

का०—संस्कृत के 'च' आदि निपातों से उचित स्थान पर रख देने से काव्य की अर्थ संगति असंदिग्ध हो जाती है जैसे ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' के इस पद्यार्थ में।

> 'जड़ बुद्धि के लोग स्वर्ग सुख की कामना से सैकड़ों बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं। उनका स्वर्ग में बहुत-सा समय बीतता भी है। पर वह आधे क्षण के समान होता है। पुण्य धन के क्षीण हो जाने पर वहाँ वे नहीं ठहर सकते जैसे कामी लोग द्रव्य की समाप्ति पर वेश्या के घर नहीं रुक पाते। इसलिए मोक्षसुख का सहारा लेना चाहिये। अरे वही सत्य है, वही नित्य है।

इसमें स्वर्ग-सुख को वेश्या भोग की भाँति अवसान में निरस एवं चंचल तथा मोक्ष-सुख को निःसंदेह एवं निश्चित बताया गया है। इसमें 'अरे' निपात का प्रयोग उचित स्थान पर होने से वाक्यार्थ में औचित्य आगया है।

श्री चक्र कवि के इस पद्यार्थ में वैसी बात नहीं है।

> 'आप यद्यपि सब कुछ जानते है फिर भी मैं नीति की बात कहता हूँ। आलान्तर के राजा से, जो आपका बान्धव है, संधि स्थापित कर निश्चिन्त हो जाइये। फिर म्लेच्छों का विनाश, अपने अयश का निवारण, विश्व भर में यश का विस्तार तथा समुद्र पर्यन्त फैली हुई पृथ्वी पर से कर प्राप्त कीजिए।

यहाँ राजा की स्तुति का प्रसंग है। आप सब कुछ जानते हैं फिर भी इस अर्थ के लिए कवि ने 'देवोजानाति सर्वं यदपि च तदपि' वाक्यांश प्रयुक्त किया है। इसमें 'यदपिच तदपि' के मध्य में आया हुआ और अर्थ वाला 'च' निरर्थक है। एक से अधिक वस्तुओं के संयोग में 'च' सार्थक होता है। यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ तो 'च' की स्थिति ऐसी है जैसे किसी उत्सव की ज्यौनार में अपरिचित अनिमंत्रित व्यक्ति का पंक्ति में बैठ जाना। यही अनुचित है।

कालौचित्य

(२६) का०—वाक्य में जब कालोचित अर्थ का संनिवेश होता है तो वह ऐसा सुन्दर लगता है जैसा अवसरोचित वेष से सत्पुरुषों का शरीर।

ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का यह पद्यार्थ इसका उदाहरण है।

'जो ग्वालों का शिशु, दूध दही का चोर और करसियाँ चुगने वाला था, उसी को जड़ लोग आज, जगत्पति, शौरि' मुरारि, हरि, श्री वत्सांक आदि आदि नामों से स्तुति कर कानों को भरे डाल रहे हैं।' परिवर्तन करने में निपुण-काल की पाकक्रिया कितनी आश्चयजनक है?

अमर्ष को प्रकट कर मरने वाला शिशुपाल यह कह रहा है। यहाँ 'था' भूतकाल की क्रिया से आश्चर्य का परिपोष होता है और अधिक्षेप रून जो वाक्य है उनका औचित्य सिद्ध होता है।

कवि मालव कुवलय के नीचे लिखे पद्यार्थ में भी वैसा औचित्य है।

'कुन्दों के पुष्प गिर रहे हैं। वृक्ष पुष्पोद्गम के मारे अलस हो रहे हैं। कोयलें स्वर को मन में रखती ही हैं, बाहर नहीं फैलाती। सूर्य की किरणें शीत के बढ़ावे का छेदन तो करती हैं पर थकान देने वाली प्रौढ़ता अभी उनमें नहीं आ रही।'

बसन्त प्रारम्भ ही हुआ है। उसमें नवीन रसों के उल्लास से कामजन्य उत्कंठा की अनुभूति होती है। इसके लिए ऋतु संधि के इस प्रकृति वर्णन में वर्तमान काल की क्रियाओं के प्रयोग द्वारा हृदय संवाद सुन्दर औचित्य का स्फुरण होता है।

वाराहमिहिर थे इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं रहा।

'मास मास में चन्द्रमा क्षीण होकर सूर्यमंडल में प्रविष्ट होता है। किसी एक कला को लेकर फिर दूर दूर हो जाता है। जब किसी प्रकार संपूर्ण होता जाता है तो सूर्य की स्पर्धा करता हुआ उदित होता है। न वह कभी कुटिलता बंद करता है और न कभी दीनता को उसने छोड़ा।'

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि चन्द्रमा क्षीण होकर प्रत्येक मास में सूर्य मण्डल की शरण लेता है और प्राणदात्री किसी एक कला को लेकर दूर हो जाता है। जब किसी न किसी तरह पूरा हो जाता है तो सूय से ही स्पर्धा करता हुआ सामने निकलता है। इसमें कुटिलता और दीनता चन्द्रमा के दो धर्म सनातन हैं। उनके लिए परस्पर विरुद्ध

वर्तमान काल की 'बंद करता है' तथा भूतकाल की 'छोड़ा' क्रियाओं का प्रयोग विरुद्धार्थ होने से अनुचित है।

देशौचित्य

(२७) का०—देशौचित्य भी बड़ा हृदय संवादी होता है। इससे काव्यार्थ इस प्रकार शोभा पाता है जैसे परिचय[1] बढ़ाने वाला सज्जनों का व्यवहार। भट्ट भवभूति का यह पद्यार्थ इसका उदाहरण है :—

> 'जहाँ पहले नदियों की धार बहा करती थी अब वहाँ पुलिन बन गया है। वृक्ष जहा घने थे वहाँ कम हैं। जहाँ कम थे वहाँ घने हो गये हैं। बहुत समय के बाद देखने पर वन और और सा लगता है। हां, पर्वतों का यथा स्थान संनिवेश यह निश्चय कराता है कि यह सब वही है।'

बहुत वर्ष बीत जाने पर राम शंबूक के बध के प्रसंग से दण्डक बन में आए हैं। चारों ओर बन को देखकर वे कह रहे हैं कि जहाँ पहले नदियों का प्रवाह था अब वहाँ तट बन गया है, वृक्षों की घनता एवं विरलता परिवर्तित हो गयी हैं। इससे बहुत दिन के बाद देखा गया वन कुछ दूसरा सा लगता है। पर्वत ही इस बुद्धि को स्थिर करते हैं कि यह सब वही है। यहाँ चिरकाल की उलटफेर के कारण परिवर्तित हुए कानन का वर्णन है। इससे हृदय संवादी देश स्वभाव के कारण बड़े औचित्य का द्योतन होता है। राजशेखर के नीचे लिखे पद्यार्थ में उक्त गुण नहीं पाया जाता :—

> 'जो राजशेखर कवि कर्णाटी के दशनों से अंकित हुआ है; महाराष्ट्री के तीक्ष्ण कटाक्षों से आहत बना है; प्रौढ़ आन्ध्री के स्तनों से जिसने पीड़ प्राप्त की है; प्रणयिनी के भ्रूभंगों से भी विभासित रहा है; जो सौराष्ट्र की तरुणियों के बाहुपाश में आबद्ध रहा है तथा मलयालम की सुन्दरियों ने जिसे तर्जनी से झिड़का है वही अब बनारस की कामना करता है।

निरर्गल भोगों के अनन्तर आने वाले शान्तभाव का कवि ने अपने पर घटाकर यहाँ वर्णन किया है। कर्नाटक आदि देशों के

१—दो भले मित्र आपस में मिलते हैं तो अपने पूर्व परिचित प्रसंगों की चर्चा करते हुए प्रेम को दृढ़ बनाया करते हैं। अभिमानी मित्र अपनी अपनी नवीन सफलताओं की प्रशंसा करते हुए एक दूसरे से पृथक् बन जाते हैं।

इन्द्रिय-सुख का भोग कर लेने के बाद जब कवि राजशेखर का राग-मोह गलित हो गया तो वह बनारस जाना चाहता है। इसमें शृंगार रस में झूमने वाली अंगनाओं के प्रसंग से मुक्तभोग प्रधान दक्षिणापथ का नामनिर्देश पूर्वक वर्णन करते हुए एक स्थान पर केवल 'प्रणयिनी के भ्रूभंगों से वित्रासित' कहना और उसमें किसी देश विशेष का नामोल्लेख न करना विद्यमान देशौचित्य को अनुचित बना देता है।

कुलौचित्य

(२८) का०—सहृदयों के लिए पुरुषों के समान काव्य का भी कुलोपचित औचित्य विशेष उत्कर्ष का कारण बनता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का वंशपरंपरा का उन्नत औचित्य सहृदयों को प्रिय लगता है उसी प्रकार काव्य का भी। कालिदास के निम्नलिखित पद्यार्थ में इसका दृष्टान्त विद्यमान है।

> 'अब वह विषयों से व्यावृत्त हो गया। सब राजाओं में श्रेष्ठ अपने श्वेत राजछत्र को विधिपूर्वक अपने पुत्र को देकर उसने पत्नी सहित मुनिवनों के तरुओं की छाया का आश्रयण किया। बुढ़ापे में इक्ष्वाकुओं का यही कुलव्रत होता है।

यहाँ बताया गया है कि इसके बाद राजा दिलीप ने वृद्ध होकर अपना राज्य पुत्र रघु को सौंप दिया और आप सपत्नीक तपोवन को चला गया। इक्ष्वाकु वंश के लोग अन्त में विरक्त होकर इसी कुलव्रत का पालन करते हैं। ऐसा कहने से एक वंश के भूत, भावी और वर्तमान सभी कालों के राजाओं के आचार के औचित्य का पता चलता है।

कवि यशोवर्म देव के इस पद्यार्थ में यह बात नहीं है।:—

> 'मेरी भण्ड कुल में उत्पत्ति हुई। जो पद अभीष्ट था वह भी मिल गया। फिर भी भाग्य से एक बार भी भोग भोगने को नहीं मिले।

किसी राजा का समृद्धिकाल में पत्नी से वियोग हो गया। वह अनुताप में कहता है कि भण्ड कुल में जन्म, अभीप्सित पद की प्राप्ति आदि तो सब मिल गए पर भोग फिर भी न भोगे जा सके। दैवयोग ? इस उक्ति में यह अनौचित्य है कि भण्डकुल काव्यादिकों में प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ पर बिना किसी उत्कर्ष बाचक विशेषण के केवल नाममात्र से उसका उल्लेख किया गया है। पहले पद्य में

इक्ष्वाकु कुल का भी वैसा ही उल्लेख है पर वह इस कारण उचित है कि उक्त वंश त्रिभुवन प्रसिद्ध है।

व्रतौचित्य

(२६) का०—अच्छे अच्छे व्रतों के औचित्य का गौरव यदि काव्य में उल्लिखित होगा तो वह प्रशंसनीय बन जायगा। इससे सहृदयों के मन में इस विच्छित्ति के कारण बड़े सन्तोष की सृष्टि होती है। जैसे ग्रन्थकार के 'मुक्तावली' काव्य के इस पद्यार्थ में :—

> 'यहाँ पर ढाक के वृक्ष वल्कल धारण करते हुए, पुष्पों की रेणु रूपी भस्म से भूषित बनकर चंचल भौरों के वलय की अक्षमाला लेते ह ता तपस्वी जैसे लगते हैं।

इसमें तपोधनों के योग्य व्रत की व्यंजना करने वाली वस्तुओं का उल्लेख है जैसे वल्कल, भस्म तथा अक्षमाला का धारण करना। यहां अचेतनों में भी वैराग्य काल की विमल चित्तवृत्ति का वर्णन करना औचित्य की सृष्टि करता है।

दीपक कवि के इस पद्यार्थ में उक्त गुण नहीं है।

> 'स्वाभिमानी प्राणवान व्यक्ति क्षुधार्त हो तो उदर पूर्ति के लिए हाथ में श्वेत वस्त्र से ढका भिक्षा पात्र लेकर किसी गाँव या पवित्र जंगल में, जिसके आसपास न्याय वेत्ता ब्राह्मणों की यज्ञाग्नि का धूंआं फैला हो; द्वार द्वार पर घूम ले। यह अच्छा। पर समान कुल वालों में प्रतिदिन दीन बनकर घूमना अच्छा नहीं।'

इसमें वैराग्य के निर्मुक्त रूप का वर्णन अभिप्रेत है पर 'क्षुधार्त हो तो उदरपूर्ति के लिए भिक्षा-पात्र लेकर द्वार-द्वार घूम लो। यह अच्छा। पर समान कुल वालों में प्रतिदिन दीन बनकर घूमना अच्छा नहीं।' ऐसा कहने से सहज शान्ति से निर्मल बने चित्त के विश्रान्त संतोष का त्याग कर तुल्य कुल वालों के द्वेष को जीतने की इच्छा अधिक व्यक्त होती है। यह अनुचित है।

तत्वौचित्य

(३०) का०—कवि यदि अपनी रचना में किसी मार्मिक सत्य का उद्घाटन कर उसके प्रति सहृदयों की धारणा दृढ़ बना देता है तो वह कृति हृदय संवादी एवं ग्राह्य हो जाती है। तत्वोचित कथन

से कवि की उक्ति इसलिये ग्राह्य बन जाती है कि उसमें सत्य के प्रति विश्वास स्थिर होता है। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार की 'बौद्धावदानलतिका' का निम्नलिखित पद्यार्थ लीजिये।

> 'स्वर्ग हो, पृथ्वी हो या पाताल, शैशव हो या यौवन, बुढ़ापा हो, मृत्यु काल हो या गर्भ शय्या का आश्रयण प्राणियों में सदा साथ रहने वाले प्राक्तन कर्म का विनाश कभी नहीं होता।'

इस उक्ति में बताया गया है कि कर्म प्राणियों के सदा साथ रहता है चाहे शैशव हो, यौवन हो या बार्धक्य। उसका कभी विनाश नहीं होता। वाक्य में प्राणिमात्र के लिए हृदय संवादी सत्य का आख्यान हुआ है और उससे औचित्य की स्थापना होती है।

माघ के इस पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं रहा।

> 'भूखे व्याकरण नहीं खा लेते प्यासे भी काव्य रस नहीं पीते। विद्या के द्वारा किसी ने अपने वंश का उद्धार नहीं किया। सुवर्ण कमाओ। कलायें निष्फल हैं।'

उक्ति का तात्पर्य है कि जीवन यात्रा धन से चलती है। अतः धन ही कमाना चाहिये। कलायें निष्फल हैं। भूखे व्याकरण शास्त्र को खाकर तथा प्यासे काव्य रस का पान कर तृप्त नहीं हो जाते। विद्या से भी किसी के कुल का उद्धार नहीं होता। उक्ति से अनुमान होता है कि कवि दारिद्रय दैन्य आदि से धैर्य कातर है। यह उसकी भले ही व्यक्ति गत अनुभूति हो पर सत्य इसके विपरीत है। अतः यह अनुचित है। विद्या ही तो सब प्रकार की संपत्ति का हेतु है। वह भी यदि वंश के उद्धार में समथ नहीं तो फिर अन्य कौन सी वस्तु होगी।

सत्त्वौचित्य

(३१) का०—कवि का सत्त्वोचित बचन चमत्कार की सृष्टि करता है जैसे बुद्धिमान व्यक्ति का विचार के साथ किया गया उदार चरित। सत्व का अर्थ है बल, प्रताप, ऐश्वर्य आदि। उसका औचित्य है यथार्थ रूप का चित्रण। कल्पना के सहारे यथार्थ स्थिति का अपह्नव न करना। ग्रन्थकार के 'चित्र भारत' नाटक का निम्नलिखित पद्यार्थ इसका उदाहरण है।

'समुद्र का शरीर अनेक नदियों के जल से आपूरित रहता है तथा बढ़ी हुई ज्वालाओं की वडवाग्नि से क्षत भी है। पर इससे उसके विशाल सत्व को न तो दृप का स्पर्श होता है न दैन्य का। महान पुरुषों में अवस्था भेद से विकार नहीं आता।

यहाँ समुद्र के व्यपदेश से युधिष्ठिर के सत्वोत्कर्ष का वर्णन है कि नदियों का जलपूर समुद्र को उत्सेक देने में तथा बड़वाग्नि का शोषण संकोच देने में असमर्थ रहते हैं। अवस्थाओं के भेद से महाशयों में विकार नहीं आता। इससे युधिष्ठिर की गंभीर धीर सत्व वृत्ति उचित रूप से चित्रित हुई है।

महेन्दुराज का निम्नलिखित पद्यार्थ इस गुण से रहित है।

'यह भगवान् बडवानल आश्चर्य की वस्तु है और वैसी ही आश्चर्य की वस्तु समुद्र है। इनके कर्मातिशय का चिन्तन करते मन में कंप हो उठता है। एक अपने आश्रय को ही खा जाता है फिर भी जल से इसकी तृप्ति नहीं होती। दूसरा भी इतना महात्मा कि उसके शरीर में इससे थोड़ा सा भी श्रम नहीं होता।'

इसमें बड़वानल का सत्व तथा समुद्र का महत्व कथनीय हैं। इनमें से एक क्षुद्र होने के कारण जलपान से कभी तृप्त नहीं होता दूसरा उसे आश्रय देकर भी कभी खिन्न नहीं बनता। यह दोनों आश्चर्य हैं, पर अग्नि जैसा संतोष-हीन सतत भक्षो है उससे तो सबको लज्जा ही होगी। समुद्र का भी क्या सत्त्व कि वह अपने एक आश्रित याचक की याचना भी न पूरी कर सका। इस प्रकार यहाँ दोनों के सत्त्व की स्तुति उचित रूप से नहीं हुई।

अभिप्रायौचित्य

(३२) का०—कवि का वाक्य जब बिना किसी क्लेश के अभिप्राय समर्पण करता है तो वह सत्पुरुषों के निर्मल आर्जव के समान चित्त का आकर्षक बन जाता है। वाक्य क्लिष्ट न हो तो उसका अभिप्राय सरलता से अवगत हो जाता है। ऐसा वाक्य सज्जनों की निर्दोष ऋजुता के समान हृदय को आकृष्ट करता है। दीपक कवि का निम्नलिखित पद्यार्थ इसका उदाहरण है।

'हे माँ, ब्राह्मणों में यह कोई आश्रयहीन क्षत्रिय राजपुत्र है। इसके पंजे के ऊपरी भाग में बाज के पैर पकड़े रहने से खरौंच आ गया है। पहुँचे पर धनुष की डोरी का चिह्न है। अधर, हाथ, पैर, और नयन-प्रान्त लाल हैं। वक्षस्थल स्थूल है। पुत्रि, यदि ऐसा है तो यह कोठे में भीतर जाए। विशेष अतिथि पुण्य से प्राप्त होता है।

इसमें कोई स्वैरिणी सायंकाल किसी युवा राजपुत्र पथिक को देखकर माँ से अपना अभिप्राय सूचित करती है। माँ ने भी उसके अभिप्राय को पूरा करने के लिए अतिथि को घर में प्रविष्ट कर लेने की बात की। इससे अभिप्राय की स्पष्ट अवगति यहाँ होती है। यह औचित्य है।

इसी कवि के नीचे दिए पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं है।

'अरी विरह भ्रान्ते, तू तो पति के लिए इतनी आर्त बन गई कि देवी के चरणों में एक दम गिर पड़ी। पूजा का थाल स्वयं तुमने पास में रखा था। फिर भी उसके किनारों से फटते हुए अपने मस्तक को भी तूने नहीं देखा।'

किसी विनीत तरुणी का पति देर के बाद घर लौटा है। पत्नी के मस्तक पर स्वच्छंद विहार के नख चिह्न बने हुए हैं। सखी उन्हें छिपाने का उपदेश देती हुई कहती है कि तू पति के विरह में इतनी उन्मत्त हो गई कि उनके आगमन की प्रार्थना करते समय चण्डी के पैरों में एक दम गिर पड़ी और अपने आप पास में रखे हुए पूजा थाल के किनारों से जब मस्तक फट गया तो उसे देख भी न सकी। इस उक्ति में स्वच्छंद विहार के छिपाने की शिक्षा मात्र प्रतीत होती है। सखी या तरुणी का कोई अभिप्राय विशेष नहीं।

स्वभावौचित्य

(३३) का०—स्वभाव का औचित्य काव्योक्तियों का भूषण है, उसी प्रकार जैसे युवतियों का अकृत्रिम लावण्य विशेष। ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का निम्नलिखित पद्यार्थ उदाहरण है।

'सद्यः स्नात युवती, जिसके स्तन कान से ऊपर फैलाए केशपास से टपकते हुए जल बिन्दुओं द्वारा हार के समान ढक जाते हैं, जो शीत से रोमांचित हो 'सी-सी' करती है, काजल धुलने से जिसकी आँखों के कोए लाल

पड़ जाते हैं तथा जिसके केश पाश से जल टपकता है वह किसके मन को आर्द्र न बना देगी।'

व्यास पुत्र श्री शुकदेव जी वैराग्य निःसंग होकर गगन गंगा के किनारे घूम रहे थे। उस समय उन्होंने निःसंकोच भाव से बैठी नंगी अप्सराओं को देखा। उनका मन वैराग्य से विमल था इसलिए किसी प्रकार का स्मरविक्षोभ नहीं हुआ। यह प्रतिपाद्य है। इसके लिए कहा गया है कि—युवतियों के बालों की छोरों से गिरे जल-विन्दु उनके स्तनों पर हार बना रहे थे। शीत के कारण वे रोमाञ्च में 'सी-सी' करती थीं, आँखों का काजल धुलने से प्रान्त भाग लाल पड़ गये थे। और केश पाश से जल टपक रहा था। ऐसी स्नानोत्तीर्ण युवतियाँ किसके मन को गीला न करेंगी। वह स्वयं गीली हैं दूसरे को भी गीला बनाती हैं। स्वभाव का चित्रण उचित है।

ग्रन्थकार के ही दूसरे पद्यार्थ में यह तत्त्व नहीं।

'चुगलखोरों की वाणी में सभी गुण दोष हो जाते हैं। भक्ति कातरता बन जाती है, क्षमा डर और पूज्य की प्रशंसा, धैर्य दारुणता कहलाता है, मति कुटिलता तथा विद्या बल क्षोभ। वे ध्यान को वंचकता, तप को ठगविद्या और शील को नपुंसकता के रूप में देखते हैं।'

यहाँ वर्ण्य है पिशुन का स्वभाव। उसमें भक्ति आदि गुण भी विपरीत हो जाते हैं। इससे उनकी वाणी सभी दोषार्द्र हो जाती है। पर जो स्वयं आर्द्र नहीं है वह दूसरों के द्वारा भी आर्द्र नहीं हो सकता। फलत यह उक्ति उचित नहीं।

सार संग्रहौचित्य

(३४) का०—सार का संग्रह बताने वाले वाक्य से काव्यार्थ का फल निश्चित हो जाता है और वह शीघ्र समाप्त होने वाले कार्य की भाँति सभी को प्रिय लगता है।

वृ०—शीघ्रकारी व्यक्ति के कार्यों की भाँति सारसंग्रह की व्यंजना वाले काव्य से काव्यार्थ का फल निश्चित हो जाता है। वह सभी को प्रिय लगता है। जैसे ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' के निम्न-लिखित पद्यार्थ में—

'कठिन कठिन अनेक ग्रंथों के सार भार से लद कर मुनियों ने अभिनिवेश पूर्वक कहा है पर कुछ तत्त्व नहीं कहा। महर्षि व्यास का तो विचार का सुन्दर सार यही है कि अहंभाव भव बंधन तथा उसका अभाव मोक्ष है।'

यहाँ भगवद्‌गीता के सार अर्थ का विचार है। उसमें निष्कर्ष की बात यही है कि अनेक शास्त्रों के भेद-विभेदों में पड़कर जड़ बुद्धि वाले मुनियों ने अभिनिवेश से भी कोई सार की बात नहीं कही। भगवान व्यास ने तो निर्मल विचारणा के बाद यही निश्चय किया है कि अहंकार संसार बंधन की तथा ममतापरित्याग मोक्ष की मूल भूमि है। अतः संक्षेप में भवबंधन से छुटकारा पाने का महर्षि का उपदेश अत्यंत सूक्ष्मता के औचित्य से यहाँ प्रकट हुआ है। परिव्राजक के इस पद्यार्थ में वैसा सार संग्रह नहीं है।

'हमने तप नहीं किया उलटे तप्त हो गए। भोग नहीं भोगे उल्टे स्वयं भुक्त हो गए। जरा जीर्ण न हुई हम ही जीर्ण हो गए। तृष्णा न बीती हम बीत गए।'

इसमें 'हम ही तप्त, मुक्त, जीर्ण बने तथा बीते' ऐसा कहने से निःसारिता एवं अचारुता का प्रतिपादन होता है पर वाक्यार्थ का किसी विशेष निर्णय में पर्यवसान नहीं होता अतः पद्यार्थ में कोई सार संग्रह का औचित्य नहीं है।

प्रतिभौचित्य

(३५) का०—प्रतिभा का औचित्य कवि की कलाकृत्ति का आभरण है जैसे श्रेष्ठ गुणवाले व्यक्ति के कुल का भूषण वैभव होता है।

वृ०—प्रतिभा का उचित पुट काव्योक्तियों को अलंकृत करता है। श्री भी उज्वल वंश का भूषण बनती है, जैसे ग्रन्थकार की 'लावण्यवती' रचना का यह पद्यार्थ :—

'अरे निर्दय, तू बिंब समझकर मेरे अधर को क्यों काटता है। जा चपल, तू पकी हुई जामुनों की आशा मत कर।' इसप्रकार पति को द्वार पर आया जान प्रियतम के दांतों से क्षत हुए ओष्ठ वाली चतुरा ने तोते को ऊँचे स्वर से कहा।'

किसी का पति द्वार तक आ चुका था। उसका अधर किसी अन्य कामी द्वारा खंडित था। इसलिए उसे छिपाने के लिए तोते को संबोधन कर इस प्रकार वह बोली मानों उसे पति के आने का कुछ भी पता नहीं। 'अरे निर्दयी तू बिंबफल समझकर मेरे ओठों को काटता है। अब तू पकी पकी जामुनों की भी आशा न कर। मैं तुझे उन्हें भी न दूंगी।' इसमें कवि ने विश्वास दिलाने एवं दोष को छिपाने के लिए प्रज्ञाचातुर्य का चमत्कार के साथ औचित्य प्रदर्शित किया है।

भट्टतौत की उक्ति है कि प्रतिभा नई नई सूझवाली प्रज्ञा का नाम है।

ग्रन्थकार की उसी रचना के इस पद्यार्थ में वैसा औचित्य नहीं है।

> 'प्रिय बाहर निकल गया था, घर के सब जाग चुके थे, शृंगार शय्या के पुष्पादि हटा दिये गए थे, उस समय प्रातःकाल ही उत्कट राग वाला दूसरा प्रेमी आगया, जिसे भोगावसर नहीं मिला था। वेश्या ने उसे यह कहकर कि— 'मैं तुम्हारे प्रेम में द्वार पर नेत्र लगाए रात भर अकेली सोई हूँ।' इस प्रकार भूमि पर चरणाघात किया कि उसकी नीवी खसकने लगी और कामुक अशोक[१] बन गया।'

इसका आशय है कि किसी वैश्या ने अपने पुराने प्रेमी को संभोग सुख का अवसर न देकर नये प्रेमी के साथ रात बितायी। प्रभात होने पर जब वह बाहर निकल गया तो शृङ्गार शय्या के संभोग चिह्न पुष्पादि हटा दिये गए। अवसर भ्रष्ट पुराना रागी गहरे प्रेम में विक्षिप्त सा होकर आया तो वेश्या ने विश्वास दिलाने के लिए कृत्रिम कोप के आवेग में नीवी सरकाते हुये कहा कि मैं द्वार पर आँखें लगाये सारी रात तेरे लिए अकेली सोई हूँ। उसने क्रोध का व्यंजक पाद प्रहार किया तो कामी अशोक की भाँति फूल उठा। उसका शोक निर्मूल हो गया। इसमें गणिका का सच्चे वियोग का सा प्रदर्शन तथा कामी का गाढ़ानुराग व्यक्त होता है। प्रतिभा से उद्भूत किसी औचित्य की सूचना नहीं मिलती।

१—कवि समय प्रसिद्ध है कि सती युवती के चरणाघात से अशोक फूल उठता है। यहां अशोक का अर्थ शोक रहित तथा अशोक वृक्ष है।

अवस्थौचित्य

(३६) का०--अवस्था का उचित चित्रण करने वाला काव्य संसार में पूज्य होता है जैसे बुद्धिमानों का विचार से किया गया कार्य। ग्रन्थकार की रचना 'लावण्यवती' का यह पद्यार्थ वैसा ही है।

> 'उसने गेंद खेलना छोड़ दिया है। बाल्योचित चंचलता भी त्याग दी है। भोलापन उड़ गया है। गजगति का आश्रयण कर भौंहें नचाने का अभ्यास कर रही हैं। नर्म परिहासों में विदग्धता की बातें वह कहने लगी है। इससे प्रतीत होता है कि उसे सौभाग्य का अभिमान प्राप्त हो गया है।'

इसमें किसी के शैशव की समाप्ति और यौवन के नवोन्मेष का वर्णन है। उसे प्रौढ़ता प्राप्त किये बिना ही नवसंभोग के सौभाग्य का गौरव मिल चुका है अतः किसी तरुण का अभाव उसे खटकता नहीं। इस वयः संधि की वर्णना में औचित्य फुरता सा प्रतीत होता है।

राजशेखर के इस पद्यार्थ में उक्त औचित्य नहीं रहा।

> 'यह प्रौढ़ धन्वी, क्षत्रियों के विनाश में पटु तथा कानपर्यंत बुढ़ापे के सफेद बाल लेकर वृद्ध बना परशुराम उस रामचन्द्र से युद्ध करना चाहता है जिसकी हथेली नवीन धनुर्ग्रहण से लाल ही पड़ी है, जो ताड़का का मारने वाला है तथा जिसके कंठ में अभी मा का दूध भी संलग्न है। उसे लज्जा क्यों नहीं आती।'

इसमें चमत्कार पूर्ण ढंग से राघव की अवस्था परशुराम की अवस्था से विपरीत वर्णित की गई है। परशुराम प्रौढ धन्वी हैं, रामचन्द्र के हाथ इतने कोमल हैं कि धनुर्ग्रहण से उनकी हथेली लाल हो जाती है। जामदग्न्य ने असंख्य क्षत्रियों को मारा है। रामचन्द्र जी केवल ताड़का को मार सके हैं। जामदग्न्य के कानों पर बुढ़ापे के चिह्न सफेद बाल आ गए हैं पर राम अभी बालक हैं, इस विषमता में युद्ध लज्जाजनक है। यहाँ अवस्था भेद की व्यंजना लक्ष्य है। उसमें रामचन्द्र को ताड़का संहारी कहकर वीर बताना विरुद्ध अभिधान है। इस अनौचित्य से चित्त में संकोच सा होता है।

विचारौचित्य

(४७) का०—जिस प्रकार मनीषियों की विद्या वेदनीय तत्त्व

के अवबोध से और अधिक शोभनीय बन जाती है उसी प्रकार काव्योक्तियों में उचित विचार का अभिधान होने से अधिक चारुता आती है। उदाहरण के लिए ग्रन्थकार की 'मुनिमत मीमांसा' का यह पद्यार्थ दिया जाता है।

> 'अश्वत्थामा के वध की बात कहते समय सत्य के व्रत का उत्साह रखने वाले युधिष्ठिर ने भी जो वक्रता से (हस्ती) यह कहा था वह प्रतीत होता है, कमलासना लक्ष्मी का सत्य के चन्द्रमा से अपना विषम वैर सूचित करने के लिए मालिन्य प्रदर्शन था जो उसे कीचड़ में उत्पन्न कमल के आश्रयण से प्राप्त हुआ है।

द्रोणाचार्य के वध के प्रसंग में सत्य के दृढ़व्रती धर्मराज ने भी उच्च स्वर से 'अश्वत्थामा मारा गया' यह कहकर धीरे से 'कुंजर' कहा था। उस पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि पंकजवासिनी लक्ष्मी का चन्द्रमा से पंकज के कारण सदा का द्वेष रहा है। असत्य भाषण में सत्य के चन्द्रमा से बैर की सूचना देने वाली लक्ष्मी का ही यह व्यापार था। अर्थात् लक्ष्मी के कारण दूषित होकर युधिष्ठिर ऐसा कहने को उद्यत हो गये। इसमें लक्ष्मी के स्वभाव को प्रकट किया गया है। तत्त्व का अवगम व्यक्त करते हुए एक फल पर्यवसायी विचार उपस्थित है। अतः सहृदय संवेद्य औचित्य व्यक्त होता है।

ग्रन्थकार की उसी रचना के दूसरे पद्यार्थ में यह औचित्य नहीं दीखता :—

> 'बहुत पहले जो पत्नी के केश और वस्त्रों का आकर्षण हुआ था उसके फीका पड़ जाने पर भीम ने दुःशासन पर यदि राक्षसों का सा नृशंस क्रूर कर्म किया तो कुशाओं एवं पत्थरों के कठोर अरण्यों में समय की प्रतीक्षा करते हुए वे जो देर तक रहे तो वहाँ उन्होंने धूप में हाँपते हुए भैंसों के पसीने से मिला हुआ पानी क्यों पिया था।'

इसमें भीमसेन के चरित्र का विचार किया गया है। द्रौपदी के केशाकर्षण के तेरह वर्ष पुराना होने पर भीम ने दुःशासन पर बाद में भयानक राक्षस कर्म किया। यदि ऐसा ही करना था तो उस समय अपराध को सहन कर चिरकाल तक पत्थर तथा दर्भसुइयों के कठिन वनों में गर्मी के संताप से जल में डूबते हुये भैंसों के पसीने से मिला

हुआ पोखरों का पानी क्यों पीया था। अर्थात् यह कार्य पहले ही करना चाहिये था। इससे भीम का कार्य निन्द्य बताया गया है इसमें कारणों पर विचार न कर निर्मूल उपालंभ दिया गया है अतः अनुचित है।

नामौचित्य

(३८) का०—नाम का प्रयोग यदि उचित होता है तो पुरुष के समान काव्य के गुण दोषों की अभिव्यक्ति प्रसंगानकूल हो जाती है। जैसे कालिदास क निम्नलिखित पद्यार्थ में है :—

> 'यह पंचवाण, जिसे दुर्लभ वस्तुओं की प्रार्थना से भी नहीं रोका जा सकता, मेरे हृदय पर पहले से ही प्रहार करता था। धीमी वायु से हिलते हुए पत्तों के आम्रवृक्षों पर जब अकुर दिखाई पड़ने लगे तो फिर कहना ही क्या ?'

यहाँ बताया गया है कि कामदेव दुर्लभ वस्तुओं की प्रार्थना से भी नहीं रुकता। यह पहले से ही मन को खंडित कर रहा था। उपवन के हिलते हुये आमों पर नवीन पत्ते आगए तो फिर क्या कहना। इसमें प्रहार करने वाले कामदेव के लिये 'पंचवाण' शब्द का प्रयोग कर्मानुरूप अतएव उचित है।

कालिदास के ही इस पद्यार्थ में उक्त सौष्ठव नहीं है —

> 'हे प्रभो, क्रोध को रोको, रोको' ये देवताओं के बचन जब तक आकाश में फैले कि भगवान भव के नेत्र से उत्पन्न हुए अग्नि ने कामदेव को भस्म कर डाला।

कामदेव के वाण मारने पर तीसरा नेत्र उघाड़ कर देखते हुए शिव के क्रोध का इसमें वर्णन है। उसे शान्त करने के लिए जैसे ही देवता चिल्लाये कि 'प्रभु क्रोध को रोकिये' उतने में ही भगवान शिवके तीसरे नेत्र की अग्नि ने कामदेव को राख बना दिया। यहां संहार के समय 'रुद्र' आदि न कहकर 'भव' कोमल नाम का प्रयोग कर्मानुरूप नहीं है इसलिए अनुचित है।

आशीर्वचन का औचित्य

(३६) का०—यदि काव्य में मनीषियों को संतोष प्रदान करने

वाली पूर्णता आ गई हो तो उसमें उचित आशीवचन का प्रयोग होना चाहिए। राजा के आशीर्वाद की भांति इससे अभ्युदय होता है। जैसे ग्रन्थकार के उपाध्याय गंगक के निम्नलिखित पद्यार्थ में:—

> 'प्रणय के परिपाक से प्रकट हुआ मृगलोचनियों का प्रेमार्द्र नेत्र विलास आप सबको सुख प्रदान करे। इसके बल को देखकर भुवन विजयी कामदेव के पांचों बाण व्यापार विहीन होकर तूणीर में अपना मुँह छिपा लेते हैं।'

इसमें असामान्य प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाले प्रणयिनियों के कटाक्षों का वर्णन है। वे सुख प्रदान करें यह आशीर्वाद युक्त ही है क्योंकि प्रियाओं के नयन विभ्रम सुख देने में समर्थ हैं।

ग्रन्थकार के 'वात्स्यायन सूत्र सार' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में भी वही बात है :—

> 'संसार भर को सेवक बनाने वाला, कमल मुखियों के नेत्रान्त का निवासी काम आप सबको प्रीति प्रदान करे। इसे शिव ने जला डाला था फिर भी अंजन की भाँति उसकी शोभा अधिकाधिक बढ़ गई।'

यहाँ काम आप सब को प्रीति प्रदान करे। जिसके जल जाने पर भी अंजन की भाँति अधिकाधिक शोभा बढ़ गई। इस में प्रीति प्रदान करे यह कहना उचित है क्योंकि काम प्रीतिरूप है।

यही बात अभरुक कवि के निम्नलिखित पद्यार्थ में नहीं है—

> 'जिसकी चंचल अलकावली हिल रही हो, कुंडल भी चल रहे हों, तथा पसीने की छोटी छोटी बूँदों से तिलक थोड़ा पुछ गया हो यह विपरीत रति के अवसान का तन्वंगी का मुख तुम्हारी रक्षा करे। हरि, हर, स्कन्द आदि देवताओं से क्या लाभ ?'

इसमें कहा गया है कि विपरीत रति के अवसान में तन्वी का मुख जिसके बाल बिखरे और कुण्डल चञ्चल हों तथा पसीने की बूँदों से तिलक पुछ गया हो—रक्षा करे हरि हर आदि देवताओं से क्या। यहाँ पर रक्षा करे ऐसा कहना अनुचित है। आनन्द प्रदान करें यह कहना चाहिये।

दूसरे काव्याङ्गों में भी इसी पद्धति से औचित्य का विचार करना चाहिये। उदाहरणों की बहुलता के कारण सब अंगों को दिखाया नहीं गया है। इतना ही पर्याप्त है।

स्वयं परिचय

काश्मीर में अपने देश के प्रकाश श्री प्रकाशेन्द्र थे जिनकी संपति इन्द्र के तुल्य थी। उनके घर में निरंतर यज्ञ चलता रहता था। और उसमें ब्राह्मणों को अग्र आसन मिलता था। उसने श्री स्वयम्भू के भवन में षोडश मातृकाओं के भित्ति-चित्र बनाये थे और गौ, पृथ्वी, मृगचर्म तथा भवनों का दान देते हुये उसी में शरीर छोड़ा था। सब मनीषियों का शिष्य क्षेमेन्द्र उपनाम व्यास दास उन्हीं का पुत्र है। उसने 'औचित्य विचार चर्चा' लिखी है।

जब श्री विजयेश राजा रत्नसिंह मित्र शिव लोक को चले गये तो उनके पुत्र उदयसिंह के लिए यह वाणी विचार किया गया है।

यह ग्रन्थ राजा श्री अनन्तराज के समय में प्रणीत हुआ है। उनके शील और शास्त्र-ज्ञान संसार भर में प्रख्यात थे। उनकी तलवार परिवार की सृष्टि करती थी। उन्होंने सबके सामने अवनत होकर विशेष उन्नति प्राप्ति की थी तथा उसका प्रतापानल दिशाओं को शीतल बनाता था।

२—कवि कण्ठाभरण

प्रथम संधि

मंगल

१—भगवान शिव की त्रिपुरदाह के समय की उस मंत्र शक्ति की जय हो जिसमें अमृत विजयी वाङ्मय बीज का प्रकाश था; सरस रूप से उठने वाले काम तत्त्व का अनुभव था; तथा परम धाम रूप में ध्यान कर लेने पर मोक्ष था। इसका स्वरूप सूर्य चन्द्र तथा अग्नि था।[1]

प्रस्तावना

२—क्षेमेन्द्र इस सरस्वती सार 'कविकंठाभरण' का शिष्यों के तो उपदेश के लिये और विद्वानों के विशेष ज्ञान संवर्धन के लिये प्रणयन करते हैं।

३-४—इसमें पाँच संधियाँ हैं—(१) अकवि को कवित्व लाभ, (२) वाणीविद् कवि की शिक्षा, (३) शिक्षा प्राप्त होने पर चमत्कार लाना, (४) गुण दोष परिज्ञान तथा (५) अन्त में परिचय प्राप्ति। इनके यथा क्रम लक्ष्य लक्षण यहाँ कहे गये हैं।

५—विद्वान लोग इस कवि कंठाभरण को विचारें। इस में उत्तम विभाजन है, अनेक गुण हैं, सौष्ठवयुक्त पदों से प्रणीत है और उत्तम वर्णों से संयुक्त है।[2]

१—भगवान शिव ने त्रिबुरदाह करने के लिये अपनी मन्त्र शक्ति को जागृत किया था। उसी का संकेत मङ्गलाचरण में है। मन्त्र के तीन बीजाक्षर वाङ्मय बीज 'ऐं', कामतत्व बीज 'क्लीं' तथा परम धाम बीज 'सौं' इसमें वर्णित हैं।

२—पद्य में भूषण का दूसरा अर्थ व्यक्त करने के लिये सुविभक्ति गुण, पदक तथा सूवर्ण शब्दों का श्लिष्ट प्रयोग किया है। इनसे भूषण पक्ष में क्रमशः मणि आदि का यथास्थान विभाजन, सूत्र, हार का चौका एवं सोने का अर्थ ध्वनित होता है।

अकवि को कवित्व शक्ति का उपदेश

सर्वप्रथम अकवि को कवित्व शक्ति का उपदेश दिया जाता है। पहले दिव्य प्रयत्न तदनन्तर पौरुष प्रयत्न का उल्लेख होगा।

दिव्य प्रयत्न

जप के लिये 'ॐ' मंत्र का स्वरूप परिचय

६—'ॐ' इस मंगल चिह्न की हम स्तुति करते हैं। यह सिद्ध, अन्तर, आद्य है। अतः ईप्सित है। सरस्वती के उदीयमान ओज का प्रदाता है और ऋ, ॠ, ऌ, ॡ अक्षर इसमें अंतर्निगूढ़ हैं।

७—यह एक ऐश्वर्य संयुक्त, ओजवर्धक औषध है। इसके मध्य में अन्तर्भूत कलाखंडों[1] से गिरनेवाली सुधा के चिह्न विद्यमान हैं।

८—चन्द्रमा से निःसृत जल इसमें[1] है। यह अज्ञान विनाशक ट, ठ तथा त, थ अक्षरों से संयुक्त है। इसकी प्रकाश किरणें प्रौढ़ एवं प्रबल हैं।

९—इस मंत्र का स्वरूप श्रेष्ठ, फलदायक, रम्य, लघु तथा कल्याणकारी है। यह बीज मंत्र से उद्भूत एवं सबके उच्चारण योग्य अक्षरों वाला है।

१०—'सरस्वत्यैनमः' इस क्रियामातृका मन्त्र का जो जाप करता है उसे अभिनव वाणी के लाभ से इन्द्र का सा क्षेम प्राप्त होता है।[2]

जापप्रकार

११—मूर्ध देश में सरस्वती का ध्यान इस रूप से करना चाहिये। वह श्वेतवर्णा है, चन्द्र मण्डल के मध्यगत है। अक्षर उसके आभरण हैं और वाङ्मय का अमृत बरसा रही है।

१२—आपस में मिले हुए दो त्रिकोणों के मध्य में उसका इस प्रकार ध्यान करो। वह तडित तुल्य है। प्रमोद दायिनी है। स्वर्ग के मार्ग से उद्भूत है। सर्वोत्कृष्ट तथा अमृत वाहिनी है।

१—'ॐ' के चन्द्र विन्दु को चन्द्रमा की कला का साम्य देकर कहा गया है।

२—इस पद्य में क्षेमेन्द्र तथा अभिनव गुप्त के नाम प्रयुक्त हुए हैं। व्यंग्यार्थ है कि अभिनव गुप्त की शिक्षा से जैसा कवित्व सामर्थ्य क्षेमेन्द्र को प्राप्त हुआ है वैसा मन्त्र द्वारा प्राप्त हो सकता है।

१३—निर्विकार, निराकार परात्पर शक्ति के रूप में उसका ध्यान करे। यह बीज त्रयीरूप (ऐं क्लीं सौं) त्रयी वाक् सरस्वती वाणी, काम तथा मुक्ति प्रदान करने वाली है।[1]

१४—वाग्भव बीज की साधना काव्य रचना के इच्छांकुर की मूलभूमि है। इसमें मोक्ष तथा विश्रान्ति प्राप्त होती है। कामतत्व बीज की साधना से काममोक्ष तथा मोक्षबीज के ध्यान करने पर संसार मुक्ति की सिद्धि होती है।

पौरुष प्रयत्न

इसके अनन्तर पौरुष प्रयत्नों का वर्णन है। तीन प्रकार के शिष्यों को काव्यक्रिया का उपदेश दिया जाता है, अल्प प्रयत्न साध्य, कष्ट साध्य तथा असाध्य शिष्यों को। उनमें से पहले को—

१५—काव्यशक्ति की उत्पत्ति के लिए किसी साहित्यवित् के पास ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उसे चाहिये कि वह तार्किक तथा केवल वैयाकरण को गुरु न बनाए। ये सूक्ति विकास के विघ्न हैं।

१६—वह व्याकरण से,संज्ञा क्रिया आदि का ज्ञान प्राप्त करे। छन्द विधान में परिश्रम करे और अखिन्न होकर मधुर काव्यों का श्रवण करे।

१७—गीतों, गाथाओं तथा सरस देश भाषा काव्यों को सुने। चमत्कार कारिणी वाणियों के नए नए अर्थों की चर्चा में रुचि ले।

१८—यदि शिक्षार्थी भिन्न भिन्न रसों में तन्मय होगा तथा भिन्न भिन्न गुणों से हर्ष का अनुभव करेगा तो उसके विवेक के सेक रूपी स्वकपाक[2] से अन्तःकरण उद्भिन्न हो जायेगा और उससे अंकुर की भांति कवित्व फूट निकलेगा।

दूसरा अर्थात कष्ट साध्य शिक्षार्थी—

१९—शिक्षार्थी कालिदास के समस्त प्रबंधों को पढ़े और इतिहास देखे। काव्य के अधिवास का यदि प्रथम उद्गम हो अर्थात अभ्या-सादि से कल्पना कर स्फुरण हो तो उसे तार्किक की उग्र गंध से बचाये।

१—कारिका ९--१३ में 'ऐं क्लीं सौं ॐ सरस्वत्यै नमः'। इस मंत्र के स्वरूप जप, महत्व तथा सरस्वती के ध्यान का उल्लेख है।

२—स्वकपाक—अपने आप पकना।

२०—उसे अभ्यास के लिए अर्थ शून्य पद रख रख कर छंद बनाने चाहिये तथा पुराने पद्यों के पदों को हटाकर उनके स्थान पर उसी अथ को पर्यायों द्वारा पूरा करना चाहिये।

अर्थशून्य पदों का पद्य जैसे :—

आनंद संदोह पदार विन्द,
कुन्देन्दु कन्दोदित बिन्दु वृन्दम्।
इन्दिन्दिरान्दोलित मन्द मन्द,
निष्यन्द कन्दन्मकरन्द वन्द्यम्।

परिवर्तित पदों का पद्य जैसे :—

वागार्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वती परमेश्वरौ॥

(कालिदास)

इसके स्थान पर :—

वाण्यर्थाविव संयुक्तौ वाण्यथ प्रतिपत्तये।
जगतो जनकौ बंदे शर्वाणी शशि शेखरौ।

इसके बाद तीसरे असाध्य शिक्षार्थी के विषय में—

२२-२३—जो स्वभाव से पत्थर के समान है अथवा जिसकी प्रतिभा क्लिष्ट व्याकरण से नष्ट हो गयी है, जो अग्नि का धुआँ फेंकने वाले तर्क से जल चुका है अथवा जिसके कानों में सत्कवियों के प्रबन्ध कभी पड़े नहीं, उसे में कवित्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती चाहे कितनी ही विशेष शिक्षाओं का प्रयोग किया जाय। सिखाने पर भी गधा गाता नहीं है और दिखाने से भी अन्धा सूर्य को नहीं देखता।

(२४) इस प्रकार पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप शुभ मति वाले शिक्षार्थियों को मन्त्र सिद्ध कवित्व प्राप्त होता है। इसके बाद बुद्धिमानों को पौरुष प्रयत्नों से कवित्व का उदय होता है। साधना करने पर जड़ बुद्धि वालों को भी शारदा का स्फुरण हो जाता है।

श्री क्षेमेन्द्र उपनाम व्यासदास के कवि कण्ठाभरण की 'कवित्व प्राप्ति' नामक प्रथम संधि समाप्त हुई।

द्वितीय सन्धि

शिक्षार्थी

१—कवि को छायोपजीवी, पदोपजीवी, पादोपजीवी अथवा सकलोपजीवी होना चाहिये। अपने ही उन्मेष से यदि किसी को कवित्व प्राप्त हो जाय तो वही संसार भर का उपजीव्य बन जाता है। छायोपजीवी जैसे भट्टभल्लट का यह पद्यार्थ—

हे कालकूट उत्तरोत्तर विशिष्ट स्थानों में आश्रय पा लेने का उपदेश तुम्हें किसने दिया है? तुम पहले समुद्र के हृदय में थे। फिर शिवजी के कण्ठ में आये और अब फिर दुष्टों के बचन में रहते हो।'

इसकी तुलना श्रीमान् उत्पलराज देव के निम्नलिखित पद्यार्थ से कीजिये।

खलों की दृष्टि मात्सर्य के तीव्र तिमिर से ढकी रहती है।
वे किसके चित्त को व्यथा नहीं पहुँचाते।
प्रतीत होता है विष शिवजी के कोमल कंठ को छोड़ कर खलो के वचनों में वृद्धि पाता है।

(इसमें पहले पद्यार्थ की छाया का सहारा लिया गया है।)

पदकोजीवी का उदाहरण मुक्ताकण का निम्नलिखित पद्यार्थ है—

'क्योंकि चलायमान बादलों का धुआँ आकाश के रन्ध्रों को भर रहा है; खद्योत स्फुलिंगों का रूप धारण कर रहे हैं; और विद्युत के चमकने से दिशायें पीली पड़ गई हैं, इससे प्रतीत होता है पथिक रूपी तरु समूह में काम की दावाग्नि लग गई है।

इस के एक पद के अर्थ का उपजीवन चक्रपाल के नीचे लिखे पद्यार्थ में है।

'इस नायिका रूपी सरसी में लावण्य का जल उदर वलियों की लहरों से चंचल होकर जघन के पुलिनों को भी उलां-घने लगा है।

चंचल नेत्र रूपी मीनों का थिरकना दिखाई पड़ता है।
इससे प्रतीत होता है कामदेव रूपी गज इसमें डूब चुका है।
स्तनों के रूप में उसी का कुंभ दिखाई पड़ रहा है।

यहाँ पहले पद्यार्थ के कुछ पदों का उपजीवन हुआ है।

पादोपजीवी के उदाहरण में अमरुक का निम्नलिखित पद्यार्थ है।

'यदि जाना ही निश्चित कर लिया है तो चले जाना। यह शीघ्रता क्यों है? और दो तीन दिन ठहरिये, जब तक मैं आपका मुख देखती रहूँ।

संसार में जीवन घटिका नली से निकलते हुए जल के तुल्य है। कौन जानता है कि मेरा तुम्हारे साथ फिर संगम हो या न हो।

इसकी तुलना ग्रन्थकार के इस पद्यार्थ से कीजिये।

'हे प्रिय विवेक, मैंने तुम्हें बड़े पुण्यों से पाया है। तुम्हें कुछ दिन मेरे पास से कहीं नहीं जाना चाहिये। तुम्हारी संगति मैं शीघ्र ही जन्म-मरण का उच्छेद किये देता हूँ। कौन जानता है, तुम्हारे साथ मेरा संगम फिर हो या न हो।'

यहाँ अन्तिम पद का आश्रयण है।

सकलोपजीवी के लिये आये भट्ट का यह पद्यार्थ उदाहरण है।

'मलिन स्वभाव के दुष्ट लोग बेड़ियों के समान निसर्ग कटु शब्दों से कानों को व्यथा देते हैं।
और सत्पुरुष स्पष्ट अर्थ वाले मधुर शब्दों से मँजीरे की भाँति मोद उत्पन्न करते हैं।

इस समस्त का उपजीवन भट्ट वाण के इस पद्यार्थ में है।

'मलिनता प्रदान करनेवाले दुष्ट लोग बेड़ियों के समान कटु शब्द करते हुए बहुत व्यथा देते हैं।
सत्पुरुष मणि नूपुरों के समान अच्छी अच्छी ध्वनियों से पद पद पर मन हरते हैं।

संसार भर के उपजीव्य कवि, जैसे, भगवान व्यास हैं। इसलिए कहा है कि:—

'यह आख्यान (महाभारत) सब श्रेष्ठ कवियों का उपजीव्य है।

जैसे अभ्युदय चाहनेवाले सेवकों का उपजीव्य अभिजात कुल का राजा होता है।

अब वाणी प्राप्त किये हुए कवि की शिक्षाओं का उल्लेख किया जाता है।

२—व्रत, सारस्वतयाग, सर्वप्रथम गणेश पूजन, विवेचन की शक्ति, अभ्यास, पदों का मिलाना, आत्म विश्वास, न थकना।

३—छंदों को पूरा करना, उद्योग, दूसरों की कृतियों का पाठ, काव्य शास्त्र का ज्ञान, समस्या पूर्ति।

३-श्रेष्ठ कवियों के साथ रहना, महाकाव्यों के अर्थों का आस्वादन, विनय, सज्जन मैत्री, चित्त की प्रसन्नता, सुवेष।

४—नाटकों के अभिनय देखना, रसिकता, कवियों के समुदाय एकत्र होने पर दान देना, गीतों से आत्म तृप्ति।

५—लोकाचार परिज्ञान, प्रसिद्ध कथाओं में रुचि, इतिहास का अनुसरण, अच्छे चित्रों का देखना।

७—शिल्पियों का कौशल देखना, वीरों का युद्ध देखना, शोक प्रलापों का सुनना, श्मसान तथा अरण्य देखना।

८—व्रतियों की सेवा, घोंसले से लेकर महलों तक सभी निवास स्थान देखना, मीठा और स्निग्ध भोजन करना, धातु साम्य अर्थात् वात् पित्त कफ की समता, शोक न करना।

९—प्रभात में सबेरे उठ जाना, प्रतिभा, स्मृति, आदर, सुखासन, दिन में सोना, गर्मी और ठण्डक से बचाव।

१०—पत्र रचना तथा भित्ति चित्रों को देखना, गोष्ठियों एवं प्रहसनों की पहचान, प्राणियों के विविध स्वभावों से परिचय, समुद्र, पर्वत आदि का निरीक्षण।

११—सूर्य, चन्द्रमा तथा तारागणों का ज्ञान, सब ऋतुओं का व्यापक अनुभव प्राप्त करना, मेले आदि जन समूहों में जाना, देश भाषाओं का उपजीवन।

१२—स्वीकार तथा अस्वीकार करने की बुद्धि, अपनी रचित कृतियों का संशोधन, स्वतंत्र रहना, यज्ञ, सभा विद्या गृहों में ठहरना।

१३—अपने उत्कर्ष की तृष्णा न करना, दूसरों के उत्कर्ष को सहना, अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जानुभव करना, दूसरों की प्रशंसा बार बार करना।

१४—अपने काव्य की सदा व्याख्या करना, किसी से बैर या ईर्ष्या न करना, दूसरों के उत्कर्ष को सद्भाव से जीतने की इच्छा, व्युत्पत्ति के लिये सब की शिष्यता स्वीकार करना।

१५—कविता पाठ के अवसरों की पहचान, श्रोताओं के चित्त का अनुवर्तन, इङ्गित और आकार को पहचानना, उपादेय पदार्थों का निबन्धन।

१६—रचना के बीच बीच में उपदेशों की विशेषोक्तियाँ लिखना, किसी एक विशेष रस का बहुत लम्बा वर्णन न करना अपनी सूक्तियों को दूर दूर भेजना दूसरों की सूक्तियों का संग्रह करना।

१७—विदग्धता, पटुता, निःसंग होकर एकान्तवास, आशा जंजाल का परित्याग, सन्तोष, सात्विकता।

१८—याचना न करना, बात चीत में भी गँवारू पदों का प्रयोग न करना, काव्य रचना का आग्रह, बीच बीच में विश्राम करना।

१९—नवीन कृतियों के लिये प्रयत्न, सब देवताओं की समान भाव से स्तुति करना, दूसरे लोग यदि कभी आक्षेप करें तो उसे सह लेना, गंभीरता, निर्विकारता।

२०—आत्मश्लाघी न होना, दीन न होना, दूसरों की अपूर्ण रचनाओं का पूरा करना, दूसरों के अभिप्राय को कहना, छायोपजीवन, दूसरों के अनुकूल कहना।

२१—प्रसाद गुण वाले पदों की योजना, संवाद के अनुसार अर्थ सङ्गत करना, विरोध रहित रसों की अभिव्यक्ति, व्यस्त एवं समस्त भाषा के प्रयोग का सामर्थ्य।

२२—प्रारम्भ हुए काव्य को समाप्त करना, भाषा का चातुर्य पूर्ण प्रवाह।

अभ्यास द्वारा भाषा पर अधिकार प्राप्त किये हुए शिक्षार्थी के लिये ऊपर के सौ उपाय शिक्षा के है।

२३—इस प्रकार विविध शिक्षाओं से कविरूपी रवि के दोष क्षीण हो जाते हैं। जब वह प्रतिभा के सुप्रभात में निद्रा त्याग कर सामर्थ्य लाभ करता है तो अपनी सूक्तियों की व्यापक किरणों द्वारा पदार्थ जात के स्वभावों को नवीन बना लेता है।

तृतीय संधि

शिक्षित कवि के लिये सूक्ति चमत्कार का विधान।

१—काव्यातिशय का इच्छुक श्रेष्ठ कवि वाणी के सत्कार के लिए सुन्दर सुन्दर वस्तुओं, शब्दों तथा अर्थों का संचयन करता है जिस प्रकार नवीन गन्ध का आस्वाद लेनेवाला भौंरा पुष्पों से पूर्ण बन में गन्ध संचयन करता है।

चमत्कार के बिना न तो कवि को कवित्व प्राप्त होता है और न काव्य को काव्यत्व।

२—अमूल्य मणि के समान एक भी चमत्कार पूर्ण पद यदि काव्य में न रहे तो वह भले ही सर्वथा निर्दोष हो, पर मणिहीन सुवर्ण के समान किसी के चित्त पर नहीं चढ़ता जैसे अंगनाओं का लावण्य हीन यौवन।

नीचे लिखा मालवरुद्र का चमत्कार शून्य पद्याथ वैसा ही है।

हे रक्ताशोक, लतायें तुमसे लिपटी हुई हैं, तुम्हारे पत्ते हिल, पुष्प खिल, कुन्डल फूट, तथा गुच्छे बढ़ रहे है। तुम गूंजते हुए भौरों के क्रीड़ा विनोद के आकर हो। तुमने जो यह आडंबर प्रारम्भ किया है इसे हटा लो। मित्र, दया करो। मेरे तो प्राण कण्ठगत हैं। प्रियतम दूर है और तुम ऐसे हो रहे हो।'

चमत्कार कालिदास[1] के निम्नलिखित पद्यार्थ में है।

'अशोक, तुम अपने पत्रों में रक्त हो मैं भी प्रिया के गुणों में रक्त हूँ। शलीमुख (भ्रमर) तुम पर गिरते हैं और काम के धनुष से छूटकर शिलीमुख (वाण) मुझ पर भी। कान्ता का चरणाघात तुम्हें भी हर्ष प्रदान करता है उसी तरह मुझे भी। मेरा तुम्हारा सब कुछ समान है। अंतर केवल इतना है कि विधाता ने मुझे सशोक बना दिया।'

चमत्कार दश प्रकार का होता है।:— अविचारित रमणीय, विचार्यमाण रमणीय, समस्त सूक्त व्यापी, सूक्तैकदेश दृश्य, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत, अलंकारगत, रसगत और प्रख्यात चरितगत।

१—कालिदास का नाम भूल से लिखा गया है। प्रस्तुत पद्य यशोवर्मा का है।

अविचारित रमणीय जैसे ग्रन्थकार के 'शशि वंश' ग्रंथ के इस पद्यार्थ में:—

'शूर हजारों हैं। सुचरित पंडितों से भी जगत पूर्ण है। कलावान इतने है कि संख्या नहीं। शान्त भी अनेकों बन में स्थित हैं। जो उत्तम मति का व्यक्ति प्राणों से भी अधिक प्रिय अपने धन का त्याग सकता है वह भूमि विभूषण शुभनिधि और भव्य है। संसार में ऐसा पुरुप दुर्लभ होता है।'

यहाँ चमत्कार की प्रतीति पहली दृष्टि पर ही हो जाती है।

विचार्यमाण रमणीय जैसे ग्रंथकार की 'पद्य कादम्बरी' के इस पद्यार्थ में :—

'उसके अंग में कामाग्नि, नेत्रों में ध्यान मुद्रा, कंठ में जीव, कर किसलय पर दीर्घशायी कपोल, कंधे पर वीणा, वक्षस्थल पर चंदन, और बाणी में मौन सब स्थित हैं। केवल चित्त ही तुम्हारे बिना स्थित नहीं है।

यहाँ विचार करने पर चमत्कार की प्रतीति होती है।

समस्त सूक्त में व्याप्त चमत्कार जैसा कवि के 'शशि वंश' के इस पद्यार्थ में:—

'तुम्हारे मुख में माधुर्य का अनुभव होता है फिर भी उसके (मुख के) नेत्र तीखे हैं। तारे पर्यन्त भागमें हैं फिर भी राग में बांध लेते हैं। वे विवेकी हैं पर कंपन की चपलता नहीं छोड़ते। आश्चर्य है, वे कान छूते है पर मार भी करते हैं। (काम उत्पन्न करते हैं तथा चोट करते हैं।)'[1]

यहाँ विरोध का चमत्कार सारे पद्य में विद्यमान है।

सूक्ति के एक भाग में विद्यमान चमत्कार ग्रन्थकार की 'पद्य कादम्बरी' के इस पद्यार्थ में देखिये।

देव वह तुम्हें हृदय में बिठा कर पद्म पत्र तथा चंदन से नित्य अर्चना करती है। मन में तुम्हारी भक्ति और तुम्हारी

१—माधुर्य और तीखापन, दूर रहना और बांधना, विवेक और चपलता तथा कान छूना और चोट करना का विरोध है। जो अपने कान छू लेता है वह भाग फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है।

ही स्मृति है। तुम्हारे नाम मन्त्र का जप है। उस सुभ्रू की तुम्हारे प्रति भावना अत्यन्त गाढ़ है। इन दिनों तुम्हारी आराधना करने में उसे तो जीवन मुक्ति ही मिल गई है। अन्तिम वाक्य में उक्ति चमत्कार है।

शब्द गत चमत्कार जैसे ग्रन्थकार के 'चित्र भारत' के इस पद्यार्थ में।

'इधर चूतों से च्युत हुये मधुचय को लेकर चतुर समीर दिशा दिशा में भौंरों को सन्तोष देते हुये बह रहे हैं। वे ही निशान्त में कान्ताओं के स्मर समर के केलिश्रम को मुसते हुये और अधखिले कमलों के आमोद को लेकर बढ़ जाते हैं।'

यहाँ अनुप्रास का चमत्कार है।

अर्थगत चमत्कार जैसे इन्हीं की 'लावण्यवती' के निम्न लिखित पद्यार्थ में—

'तुम्हारी तलवार में निर्मल जलधार का शैत्य रहता है। उसमें घनोल्लास है क्योंकि क्ष्मामृतों के बड़े-बड़े कटकों को गिरा देती है। वह शौर्य श्री के कानों का नीलोत्पल है फिर भी शत्रुओं को अग्नि का सा ताप उत्पन्न करती है'[1]

यहाँ विरोध का चमत्कार है।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार ग्रन्थकार की 'पद्य कादम्बरी' के इस पद्यार्थ में है।

'उसकी भौंहों में कामदेव की टेढ़ी धनुर्लता की समता है। निर्मोक्तियाँ हास्य की कान्ति से खिल उठती हैं। बोलचाल में प्रगल्भता है। विभ्रमों में राग और सरसता है। इस प्रकार उस मृगनयनी ने कामदेव की आयु बहुत बढ़ा दी है।

१—शैत्य = ठण्डक तथा तीक्ष्णता, धार = तलवार की और पानी की। क्ष्मामृत = पर्वत तथा राजा। श्लेष के सहारे विरोध का चमत्कार है कि तलवार ठण्डी होकर भी अग्नि का ताप देती है।

इसमें शब्द और अर्थ दोनों को चमत्कार पूर्ण ढंग से कहा गया है।

अलंकार का चमत्कार उन्हीं के 'लावण्यवती' के नीचे लिखे पद्यार्थ में है।

> 'तुम्हारे स्तन कठोर हैं, नेत्र तीखे हैं; उदर नीच है, भौंहों का स्वभाव टेढ़ा है; अधर मणि ने तो मुनिओं तक को मार दिया है। भाग्य से इतने दुर्जनों के निकट अकेला हार ही गुणी (धागों में पिरोया हुआ तथा गुणवान) रहता है। वह भी झूला के समान चंचल बन जाता है।

यहाँ विरोध अलंकार का चमत्कार है।

रस का चमत्कार 'कनक जानकी' ग्रन्थ के नीचे लिखे पद्यार्थ में है—

> 'खर दूषण तथा त्रिशिरा के नाद ने जब भुवन भर को रूँध दिया और तुम उससे चकित हो गई तो वीर आर्य क्षण भर को रुक गए। उन्होंने अपनी चञ्चल दृष्टि स्नेह, रस, हास, भ्रू भंग, स्पृहा तथा उत्साह के साथ तुम पर और उनकी सेना पर डाली।

अनेक रसों का एकत्र संस्कार चमत्कार प्रदान कर रहा है।

प्रख्यात चरित का चमत्कार ग्रन्थकार के 'शशि वंश' ग्रन्थ के इस पद्यार्थ में है।

> 'आगे बढ़ो अपनी सेना वश में करो। व्यूह भूमि की रक्षा करो। सेना की गति विधि देखो। शीघ्र भागो। अपने स्थान को छोड़ो मत। पीठ फेर कर खड़े हो जाओ। शरीर चीरने वाले बाणों की गति बड़ी तीव्र है।' जब अर्जुन ने युद्ध में लोगों को घेरा तो ये शब्द सुनाई पड़े।

यहाँ इति वृत्त को चमत्कार के साथ उपस्थित किया गया है।

३—यह विशेष-विशेष चमत्कारों के सार रूप का वर्णन किया गया है। वे अपने भेदों तथा तर्क सिद्ध प्रमाणों से स्पष्ट हो जाते हैं। यह ऐसा ही है जैसे वाणी की मिठास में थोड़ी कपूर की गंध अथवा वासंती मद्य में आम का रस मिला दिया जाता है।

चतुर्थ संधि

गुण दोष विभाग

१—कवि रूपी राज हंसों की बुद्धि चन्द्रमा के समान निर्मल होती है। वे काव्य के एक ही पात्र में विद्यमान गुण दोष के दूध में से पानी को पृथक करने में विदग्ध होते हैं। गुण दोषों का विभाग करना वे भली भाँति जानते हैं।

काव्य के गुण तीन प्रकार के होते हैं—शब्द वैमल्य, अर्थ वैमल्य तथा रस वैमल्य। इसी प्रकार तीन काव्य के दोष होते हैं—शब्द कालुष्य, अर्थ कालुष्य तथा रस कालुष्य। इसके आधार पर काव्य पाँच प्रकार के हैं—सगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष तथा सगुण दोष।

शब्द वैमल्य जैसे ग्रन्थकार की 'पद्य कादम्बरी' के नीचे लिखे पद्यार्थ में—

> 'उस समय मित्र की मृत्यु हो जाने पर कपिंजल ने 'हा पुंडरीक' यह कह कर ऐसा कुञ्ज व्यापी करुण क्रन्दन किया कि वह स्वयं संज्ञाहीन हो गया। पत्थर फट गए और जीव भयभीत हो गए। उसे स्मरण कर हरिण आज भी घास खाना छोड़ देते हैं।'

अर्थ वैमल्य जैसा ग्रन्थकार के 'शशि वंश' ग्रन्थ के इस पद्याथ में है।

> 'यदि गंगा के एकान्त तट पर, जहाँ काली चिकनी घास है, फल वाले वृक्षों की छाया धूप को निगल लेती है, चंचल लहरें छल-छल कल-कल करती रहती हैं, और हरिण एक दूसरे के सम्मुख बैठते हैं, वहाँ शान्ति पूर्वक ठहर सकते हैं तो लक्ष्मी कौन है? क्षणभंगुर सुखों से क्या लाभ? मोह को नमस्कार है।'

रस वैमल्य ग्रन्थकार की 'पद्य कादम्बरी' के निम्नलिखित पद्याथ में है।

> 'आज कामदेव का बालसखा रजनी पति चन्द्रमा अपने काले चिह्न के साथ उदय हो गया। उसका काला चिह्न

मानों तारा वधू के लोचनों के चुम्बन काल में लगा हुआ काजल का बिन्दु था।'

शब्द कालुष्य तथा अर्थ कालुष्य दोष के भट्ट श्रीशिव स्वामी कृत दो पद्य नीचे दिये जाते हैं। वे इतने अस्पष्ट है कि अनुवाद नहीं किया जा सकता। शब्द कालुष्य—

'उत्खात प्रखरा सुखासुख सखी खङ्गासिता खेलगा,
वैशृङ्खल्य खलीकृता खिलखला खेत्खेटकैः ख्यापिता।
खेटादुत्खनितु' निखर्व मनसां मौख्यं मुखात्खक्खटम्,
निःसंख्याध्वनि खर्वसर्व मणिभूराख्यातु संख्यानि वः।

अर्थ कालुष्य—

'पित्रापित्रा मते या न खलु खल घृताज्ञान् मात्रापमात्रा,
स्यो न स्यो नस्थितेर्भूर नुनयविरमद्दाम पाशाऽप्य पाशा।
वर्षा वर्षाम्बु पातात्रुटित तृण वसत्यश्रियातां श्रियाताम्,
सौरी सौरीष्टयाग्रे सरदिह जनतां साश्रुवानां श्रुवानाम्।

भट्ट नारायण कृत 'वेणी संहार' नाटक के निम्नलिखित पद्यार्थ में रस कालुष्य दोष है।

दुर्योधन की पत्नी भानुमती ने स्वप्न में नकुल प्राणी का दर्शन किया है। इससे पाण्डव नकुल के साथ उसके स्वैर विहार की कामना की व्यंजना होती है वह एक चक्रवर्ती की पटरानी के लिए सामान्य नीच स्त्री का सा व्यवहार सदोष है।

सगुण पद्य जैसे यह कालिदास का—

'तुम्हारे शरीर को रात्रियों में, दृष्टिपात को चकित हरिणियों के प्रेक्षण में, कपोल के सादृश्य को चन्द्रमा में, केशपाश को मयूरों के पिच्छों में तथा विभ्रम को नदियों की बड़ी बड़ी लहरों में देखता हूँ। पर चण्डि समूचा, सादृश्य किसी एक स्थान में नहीं मिलता।'

निर्गुण जैसे कवि चन्द्र का यह पद्य—

स्तनौ सुपीनौ कठिनौ ठिनौ ठिनौ—
कटि विशाला रभसा भसा भसा।
मुखं च चन्द्र प्रतिमंतिमंतिमम्,
अहो सुरूपा तरुणी रुणीरुणी॥

इसके स्तन मोटे और कठिन हैं। कटि विशाल है। मुख चन्द्रमा के तुल्य है। यह तरुणी सुन्दरी है।

सदोष जैसे भट्ट श्री शिव स्वामी का यह पद्य—

आद्यत्वाधि शिण्ढशिण्ढदृढता गूढानि गूढेतराम्,
प्रौढिं ढौकय पिण्ढि पिण्ढि चरुजं रूढापरूढांतया।
मूढं मूढम मूढयस्व हृदयं लीढ्वाथ मूढ्वातमः,
सोव्यूढामिति च प्रभापरिवृढा व्यूढाद्रढिम्नेस्तुवः।

पद्य अनुवाद्य नहीं है।

निर्दोष जैसे संधिविग्रहिक श्री भीमसाहिका यह पद्यार्थ :—

'धवल क्षीरोद के फेन के तुल्य, दिशाओं में फैलने वाले, गंगाजल में स्नान करना व्यर्थ ही क्यों चाहते हो। कलिकाल के कल्मषों की स्याही को धो डालने में अकेली ही समर्थ, सातों भुवनों की मंदाकिनी आप की कीर्ति विद्यमान है।'

भट्ट मयूर के निम्नलिखित पद्यार्थ में गुण और दोष दोनों हैं।

'जिसका कार्यक्रम नियमित है, जो अपनी चमकती किरणों से रात्रि को दिन में परिवर्तित कर लेता है, तथा जो दीपक के समान एक स्थान पर रहकर भी समस्त विश्व के अंधकार को प्रकासित कर देता है, त्रिभुवन में घूमने वाले उस सूर्य का उत्तर दिशा गामी किरणोद्गम तुम्हारा कल्याण करे।'

इसमें अर्थ तो सगुण है पर शब्द योजना क्लिष्ट अतएव सदोष है। सूर्य का दीपक से साम्य देना अथ दोष भी है।

२—यदि कोई कवि ऊपर बताये गुणों को अपनाता है, और कवियों में चक्रवर्ती बनना चाहता है तो उसे इन दोषों का त्यागकर वर्णों में उत्तम, मध्यम, अधम का विवेक करना चाहिए तथा राजा की भाँति वर्णों में संकर न आने देना चाहिये।

पंचम संधि

परिचय चारुता

१—यदि कोई कुकवि केवल शाब्दिक अर्थों के बल पर कोरी कष्टदायक काव्य रचना ही में लगा रहता है और अन्य परिचय से हीन रहता है तो विद्वानों की सभा में पूछे जाने पर वह इस प्रकार उत्तर देने में लजाता है जैसे नगर के गलीकूचों में घिरा हुआ नवागन्तुक ग्रामीण।

इनमें तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्म-ज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज, तुरंग, तथ पुरुषों के लक्षण, जूआ इन्द्रजाल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की जानकारी कवि के बड़प्पन की व्यंजना करते हैं।

तर्क परिचय जैसा ग्रंथकार की 'पद्य कादम्बरी' के इस पद्यार्थ में: —

'जो न मनोरथों का प्राप्य है न बचनों का, तथा जो स्वप्न में भी दिखाई नहीं देता उसे भी प्राप्त करने की धुन कामठगे लोगों में हो जाती है। निःसंदेह युवकों को आशा की खेती से ऐसे भ्रम का लाभ होता है जैसे अज्ञान के कारण सीपों में चाँदी का भान या दृष्टिदोष से आकाश में दो चन्द्रमाओं की प्रतीति।

यहाँ तर्काश्रित बात कही गयी है।

व्याकरण का परिचय भट्ट मुक्ति कलश के इस पद्यार्थ में है:—

'घर में हम पति पत्नी दो हैं तथा दो मेरी गायें हैं। व्यय करने के लिए हमारे पास कुछ नहीं। इसलिये, पुरुष, तुम वह कार्य सोचो जिससे मेरे पास चावल खूब हो जायं।

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहम् मद्गेहे नित्यम व्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥[१]

भरत परिचय मह श्रीशिव स्वामी के इस पद्यार्थ में है:—

'भरत के उपदेशों के समान यमुना का जल तुम्हारे अंधकार

१—पद्य में द्वन्द्व, द्विगु, अव्ययीभाव, कर्मधारय, तथा बहुव्रीहि समासों का नाम आया है।

का विनाश करे। पहले में नौरसों वाले नाटक स्वरुपों की रचना है और दूसरे का स्वरूप द्रव युक्त है। पहले में बिन्दु अर्थ प्रकृति से आनन्द मिलता है और दूसरे की बूंदों का उत्थान आनन्ददायक होता है। पहले में भावों का विश्लेषण तथा नाटक का तत्व प्रवेशक विद्यमान है तथा दूसरा प्रिय एवं स्नानार्थ प्रवेश करने के लिए गुणकारी है। भरत के नाटकों में गर्भ संधि रहती है। यमुना का जल गहरा है। पहले में ऊँची वृत्तियां हैं तथा दूसरा ऊँची ऊँची तरंगों से युक्त है। पहले में नृत्य-कला का विधान है। और दूसरे में कमलों (पुष्कर) का विकास। पहले में विष्कंभक तत्व है और दूसरे में संसार आवागमन को रोक देने की क्षमता है।[1]

चाणक्य की नीति से परिचय ग्रंथकार की 'पद्यकादंबरी' के नीचे लिखे पद्यार्थ में है :—

'राजाओं के प्रमाद से स्वामी, पद से मंत्री, कोप से राष्ट्र व्यसन से कोष, छिद्र से दुर्ग, विपत्ति से सेना और लोभ से मित्र क्षीण हो जाते हैं।

वात्स्यायन के काम शास्त्र का परिचय भट्ट दामोदर गुप्त के नीचे लिखे पद्यार्थ में है :—

'हे सुन्दरि, तुम्हारे अधर पर दंतक्षत, कंठ में नखक्षतों की माला, स्तनों पर नखक्षत आदि कामशास्त्रानु सारिणी रति के सूचक हैं।

पद्य में दन्तक्षत के लिये बिन्दु तथा नखक्षत के लिये मणिमाला शशप्लुतक शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये पारिभाषिक शब्द वात्स्यायनकृत काम शास्त्र के चौथे तथा पांचवे अध्यायों में वर्णित हैं।

महा भारत का परिचय ग्रंथकार के 'देशोपदेश' के निम्नलिखित पद्यार्थ में प्राप्त होता है।

'कुट्टनी कुरु राज की सेवा के समान है। वह भग के प्रभाव से आढ्य है, सेना भगदत्त योद्धा के प्रभाव से

१—कवि ने श्लेष के द्वारा यमुना का जल तथा भरत के नाटकों के तत्वों का साथ साथ वर्णन किया है।

सबल है। उसका शब्द कानों में शल्य जैसा कार्य करता है; सेना में कर्ण और शल्य के शब्द सुनाई पड़ते हैं। पर वह कृपा हीन है। सेना में भी कृपाचार्य नहीं थे।'

रामायण का परिचय भट्टवाचस्पति के इस पद्यार्थ में देखिये:—

'मैं लालसा की मृग तृष्णा में अन्धा होकर अनेकत्र घूमा हूँ। पद पद पर रो रो कर 'देहि' यह वचन बोले हैं। कुत्सित स्वामियों के मुख को देखकर अनेक चेष्टायें कीं। इस प्रकार मैं राम तो बन गया पर इतना भी धन न मिल सका कि कुशल से रह लेता। राम भी जन स्थान जंगल में सुवर्ण मृग की तृष्णा में अंधे बनकर घूमे थे। रो रो कर 'हा वैदेही' यह बचन पद पद पर कहा था। रावण के दश मुखों पर अपने बाणों की घटनायें कीं। पर वे राम ही रहे। सीता न प्राप्त कर सके।'

पद्य में श्लेष के बल से भिक्षुक और राम के धर्मों का समान वर्णन हुआ है।

मोक्षोपाय का परिचयों ग्रंथकार की 'मुक्तावली' के निम्नलिखित पद्यार्थ में है।:—

'निरासक्त भक्ति, विषयों का बाह्य नहीं आन्तरिक संयम, पदार्थों के नश्वर भाव का प्रतिदिन चिन्तन सात्विक लोगों के लिये परम पद प्राप्ति के उपाय हैं। उन्हें तप आदि की दीक्षा आवश्यक नहीं।

आत्मज्ञान का परिचय जैसे ग्रन्थकार के चित्र भारत नाटक में—

'बड़े बड़े शास्त्रों की कथा की जुगाली करने से क्या लाभ? तत्त्वज्ञों को प्रयत्नपूर्वक आन्तरिक ज्योति का अन्वेषण करना चाहिये।

धातु परिचय राजशेखर के इस पद्यार्थ में है।

'नखून से फाड़ी हुई हल्दी की गाँठ के समान पीले शरीर पर विरह से उत्पन्न हुआ सफेद रंग ऐसा अच्छा लगता है मानो सोने के साथ चाँदी रला मिलाकर मृगाक्षी के अंग बनाये गए हों।'

रत्न परीक्षा परिचय जैसे भट्टभल्लट के इस पद्यार्थ में:—

'आप जैसा उत्तम मणि जो आपत्तिकाल में धन, उत्सवों में में भूषण, आत्म भय में शरण तथा रात्रि में दीपक बनकर अनेक प्रकार के बड़े बड़े उपकार करने में समथ होता है, कोई कोई होता है।'

वैद्यक परिचय जैसे ग्रन्थकार की 'पद्य कादम्बरी' के निम्नलिखित पद्यार्थ में:—

'इसका शरीर चन्दन के लेप तथा कमल पत्रों में छिपा है। संताप शाप की भाँति शरीर को सुखा रहा है। कंपन को देखकर सखियाँ भी काँप जाती हैं। श्वासों में चञ्चल हार ढक जाता है और चीनांशुक हट जाते हैं। इस प्रकार महान दाह तथा पीड़ा देने वाला ज्वर उसे हो गया है।'

ज्योति शास्त्र का परिचय विद्यानंदन के इस पद्यार्थ में:—

'आकाश को देखते-देखते, घड़ियाँ गिनते-गिनते, छाया परखते-परखते और उङ्गलियाँ गिनते-गिनते ज्योतिषियों को केवल कष्ट ही होता है। रात वही धन्य है, दिन वही अच्छा है तथा क्षण वही पुण्य है जिसमें प्रिय अपनी प्रिया की नेत्र सीमा में अनजान में आता है।'

धनुर्वेद का परिचय ग्रन्थकार की कनक जानकी के इस पद्यार्थ में—

'खरदूषण तथा त्रिशिरा के संहार के समय मैंने निश्चल हो कर आर्य (राम) की विस्मयकारिणी स्थिति देखी है। उसमें बादलों का सा अस्त्रों का लाघव था। बाण धनुष पर चढ़े थे। वह पिनाकी की वीर स्थिति के समान प्रिय थी और चित्र क्रिया का तो अलंकार थी।'

गज के लक्षणों का परिचय जैसे उसी के दूसरे पद्यार्थ में:—

'कुञ्जर के समान राघव ने अपनी प्रियतमा को बन में अकेली स्मरण कर भोग के कवलों को दीर्घ काल से त्याग दिया और क्लेश की उष्मा से सूखने लगे। कान के पास ढुलने वाले चमर से उनके स्वास फैल जाते थे। शंख और छत्र से विभूषित होकर भी वे राज्यविभव से द्वेष करते थे। उनके नेत्र बन्द रहते थे।'

अश्व के लक्षणों से परिचय उन्हीं के 'अमृत तरंग' काव्य में—

'मद्राचल पर्वत के विमर्दजन्य खेद के कारणसमुद्र ऐसा होगया मानो घोड़े का आकार बनाने को उद्यत है। उसमें आवर्त (भँवर) थे। घोड़े के शरीर पर भी बालों की मौरियाँ होती हैं। घोड़े के समान ही उसका बल महान था। फेन सा वह श्वेत था। उच्चै श्रवा भी श्वेत होता है। समुद्र का वेग पवन के कारण बढ़ गया था। अश्व का वेग पवन का सा महान था। दोनों के घोष गम्भीर थे। विश्व साम्राज्य का दाता उच्चैः श्रवा अश्व इन्द्र के पास आया। अपनी हींस के शंख तुल्य शब्द से उसने अशेष शुभ की सूचना दी। इन्द्र ने उसे ग्रहण कर लिया।'

पुरुष लक्षण परिचय कालिदास के इस पद्यार्थ में:—

'दिलीप का वृक्ष विशाल था। कंधे बैल के से थे। साल वृक्ष जैसा वह लम्बा था। भुजाएँ उसकी महान थीं। ऐसा लगता था कि साक्षात् क्षात्र धर्म ने अपने कर्म के योग्य शरीर का आश्रयण कर लिया हो।'

द्यूत परिचय चन्द्रक के नीचे लिखे पद्यार्थ में:—

'जहाँ घर में अनेक थे वहाँ एक ही रह जाता है। जहाँ एक है वहाँ बाद में अनेक हो जाते हैं। कभी एक भी नहीं रहता। इस प्रकार पाशों के समान दिन रात को तोलता हुआ काल प्राणियों की गोट बनाकर काली के साथ क्रीड़ा किया करता है।'

इन्द्रजाल परिचय यथा श्री हर्ष के निम्नलिखित पद्यार्थ में:—

'यह कमल पर ब्रह्मा हैं; ये चन्द्रशेखर शिव हैं। चार भुजाओं में शंख, चक्र गदा पद्म लिये हुए ये विष्णु हैं। ऐरावत पर बैठे ये इन्द्र हैं। तथा हे देवि, चंचल चरणों में नूपुर बाँधकर व्योम में नाचती हुई ये अप्सरायें हैं।

इसके अतिरिक्त प्रकीर्ण परिचय में जैसे चित्र-परिचय भगवान व्यास के इस पद्यार्थ में:—

'विचक्षण लोग झूठे को सच्चा दिखा देते हैं जैसे चित्रकार समस्थल पर भी नीचा ऊँचा दिखाते हैं।'

देशपरिचय ग्रंथकार के 'शशिवंश' काव्य में:—

'अभिमन्यु के कंकण रव को सुनकर भोज लोग पिटने के भय से भाग गये, मालव लोग छिप गए, मद्र लोग पलायन कर गये, मागध मार्ग से अनेक बार हट गये, बंगों का समूह मैदान छोड़ गया, मीन लोग शरमा गए, और आन्ध्र लोग आपस में मिलकर एक ओर खड़े हो गये।'

वृक्ष परिचय उन्हीं के 'कनक जानकी' काव्य में:—

'उसने देखा कि आश्रम, जामुन, कंदूरी, कदम, नीम, मौलश्री, पिलखन, अक्ष, बहेड़ा, दाख, ढाक, कनेर, केला, नीबू, गूलर, संतानक, बेत, विल्व, तिलक, श्लेष्मातक, आरग्वध, न्यग्रोध, अर्जुन, शातन, तथा असन के वृक्षों से काले पड़े हुए थे।'

बनेचर परिचय उसी में:—

'उसने सामने पुलिन्दों को देखा। उनके बायें कंधे पर धनुष थे जिनके टेढ़े टेढ़े कोनों में नीचे को मुँह किए रक्त टपकते खरगोश लटके थे। हाथों से चमर खसके जाते थे। प्रत्यंचा के सिरे पर जो कबूतरों के बच्चे पिरोये हुए थे उनसे गिरने वाली रक्त बिन्दुओं से तूणीर रँग गया था। कभी हाथी का सिर फटने पर वे जोर से चिल्लाते थे।'

औदार्य परिचय ग्रंथकार के 'चतुर्वर्ग संग्रह' में:—

'कुलीन मान्य है पर उससे भी अधिक कलावान विद्वान है। विद्वान से भी अधिक सुशील, सुशील से अधिक धनी और धनी से भी अधिक दाता मान्य है और अयाचक ने तो दाता से भी कीर्ति जीत ली है।'

अचेतन में चेतनाध्यारोप का परिचय जैसे ग्रंथकार के शिष्य श्री महोदयसिंह के ललिताभिधान महाकाव्य में:—

'यह चैत्र का महीना सम्राट् कामदेव से मैत्री बढ़ा रहा है। खिले हुए अशोक के बहुल पुष्पों से यह अतिशय रक्त स्निग्ध है। तीनों भुवनों को जीतने के लिए उद्यत है।'

भक्ति परिचय उन्हीं के 'भक्ति भव' नामक महाकाव्य में:—

'भव भीति का भंजन करने वाली वह सन्मति भद्र पुरुषों में ही उत्पन्न होती है जिससे भगवान शिव में निर्बाध प्रेम से युक्त तथा जन्म से किये गए अभ्यास द्वारा वासित अंतःकरण को शांति प्रदान करने वाली भक्ति उत्पन्न हो। इस सन्मति से प्राक्तन कर्म के महामोह के अंकुर भी नष्ट हो जाते हैं।'

विवेक परिचय ग्रंथकार के शिष्य राजपुत्र लक्ष्मणादित्य के इस पद्यार्थ में:—

'आशापास से विमुक्त, शुद्ध सन्तोषी मन हो। सेवा से न थकने वाला निश्छल वचन हो। शिव का अर्चन और गंगा की भांति आत्म शुद्धि करने वाली सत्संगति हो। यह संसार सागर से पार जाने का श्रेष्ठ साधन है।'

प्रशम का परिचय ग्रंथकार के 'चतुर्वर्ग संग्रह' के नीचे लिखे पद्यार्थ में:—

'संसार का बन्धन तनिक भी न रहे सत्पुरुष यदि नित्य यह विचारें कि चित्त वायु में उड़ने वाले धूलि कणों के समान चञ्चल है, रूप संध्या की धूप है। भोग जीर्ण घरके बन्धों की भाँति चपल है, यौवन पुष्पों का स्मित है, बन्धु समागम स्वप्न है और शरीर सड़क के चौराहे का प्याऊ है।

२—वस्तु रचना के साहचर्य से पवित्र, रुचिर और उचित परिचय प्राप्ति का विभागशः सूक्ष्म रूप में यह दिग्दर्शन कराया गया है। इस नवीन उपदेश में थोड़ी भी उपादेयता हो तो सत्पुरुष इसे सुनने का अवसर निकालें।

३—क्षेमेन्द्र ने वाणी लाभ के लिये दैव और पौरुष उपायों का अनुष्ठान कर जो अर्जित किया है उससे काव्यार्थी लोगों को ऐसी प्रामाणिक वाणी प्राप्त हो जो स्वतन्त्र भक्ति और प्रतिभा के प्रभाव से सुभग हो और वाग्भव मंत्र के पवित्र श्रोत्रामृत को बरसाती है।

यह काव्य श्रीमान अनंतराज नृपति के राज्य में प्रणीत हुआ है। वे काश्मीर के प्रताप सूर्य हैं, कीर्तिकिरणों के चंद्रमा हैं, बड़े बड़े शत्रुओं के बन के लिये दावाग्नि हैं। धनद हैं, भूमण्डल के इन्द्र हैं। कलियुग में विराट् रूप भगवान विष्णु के मानों रूपान्तर हैं।

सुवृत्ततिलक

पहला विन्यास

१ मंगल

भगवान् शिव की जटाओं की वक्र चन्द्रकला, जो साँपों के फैले हुए फनों के रत्नों की छाया छटा से लाल हो जाती है तथा पार्वती रतिविलास में शिवजी का जो कचग्रह करती हैं उसमें ईर्ष्या के कारण किये गये उनके नखक्षतों से जो अधिक सुन्दर बन जाती है, वह आप सबका सुख विस्तार करे।

२—३—स्वच्छन्द रूप से लघु रूप धारण करने वाले, त्रिजगद् गुरु, मायावक्र भगवान् विष्णु, जिनका वामन वृत्त स्पष्ट है, उन्हें प्रणाम है।[1] छन्दों के निधान, सद्वृत्त और आचार के ब्रह्मा, तप और सत्य के आश्रय तथा अपरिमित तेज वाले भगवान् व्यास को प्रणाम है।

४—५—प्रस्तावना

क्षेमेन्द्र यह सरस्वती का शृंगार रुचिर वर्णों का 'सुवृत्त तिलक' अपने शिष्यों के मस्तक पर करता है। उसने गुण दोषों को देखकर तथा सौन्दर्य का विचार कर काव्य कर्म में प्रसिद्ध छन्दों का यह संग्रह किया है।

६—दीर्घ तथा संयुक्त अक्षरों से पूर्व का स्वर गुरु कहलाता है। इसी प्रकार संयुक्त अक्षरों का योग जिसमें नहीं ऐसा ह्रस्व अक्षर लघु कहा जाता है।

७—८—मगण त्रिगुरु, भगण आदि गुरु, जगण मध्य गुरु, सगण अन्त गुरु, नगण त्रिलघु, यगण आदि लघु, रगण मध्य लघु तथा तगण अन्त लघु होते हैं। छंद शास्त्र में लघु के लिये 'ल' अथवा लकार एवम् गुरु के लिये 'ग' अथवा गकार का प्रयोग किया जाता है।

९—ये मगण आदि अक्षर कभी एक पद में आ जाते हैं कभी-भिन्न-भिन्न अनेक पदों में और कभी संयोग में।

१—श्लोक में छन्द और वृत्त शब्द का इच्छा एवं आचरण के अतिरिक्त छन्द अर्थ भी क्षेमेन्द्र ने रखा है।

लक्षण-उदाहरण

१० —तनुमध्या

तनुमध्या में तगण और यगण के छः अक्षर ... तथा इन्हीं के पहले दो अक्षरों पर यति होती है। जैसे—

तेन प्रवि भक्ता काम वयसा सा।
येन प्रविलासं धत्ते तनु मध्या॥

'वह स्त्री उस यौवनावस्था में औरों से विलक्षण बनगई और उसी कारण उसमें विलास आगये। उसका मध्य भाग सूक्ष्म होगया।'

११—कुमारललित

कुमार ललित में जगण, सगण तथा एक गुरु मिलाकर सात अक्षर होते हैं। इसमें विराम कहीं नहीं होता। जैसा—ग्रंथकार का अपना यह पद्य—

जनं स्मृति दशाप्तं गतानुगतिकः किमु।
न शोधति जनोऽयं कुमार ललितं तत्॥

'भेड़ चाल से चलने वाला मनुष्य उस व्यक्ति के विषय में नहीं सोचा करता जो स्मृति मात्र शेष रह गया है। यह उसका बालकपन है।'

१२—विद्युन्माला

इसमें आठ अक्षर होते हैं। पहले दो मगण और उनके अन्त में गुरु। जैसे—

मौनं ध्यानं भूमौ शय्या गुर्वी तस्याः कामावस्था।
मेघोत्संगे नृत्तासक्ता यस्मिन् काले विद्युन्माला॥

'जब बादलों की गोद में बिजलियाँ नाचने लगती हैं तो उसकी काम दशा बढ़ जाती है। वह मौन होकर ध्यान करने तथा पृथ्वी पर सोने लगती है।'

३१—प्रमाणी

प्रमाणी छन्द में भी अक्षर आठ ही होते हैं पर उसमें लघु तथा गुरु अक्षर का आनन्तर्य रहता है। अर्थात् आठों अक्षर लघु गुरु क्रम से आते हैं। इसके कारण उसमें एक प्रकार का काव्य चमत्कार रहता है। जैसे—

लघुश्रुतं मदोद्धतं गुरुश्रमाय केवलम् ।
न यत्परोपकार कृद् वृथैव तत्प्रमाण्यपि ॥

'व्यक्ति को मदोद्धत बनाने वाला अल्पज्ञान केवल गुरु के परिश्रम का ही कारण बनता है। वह प्रमाण युक्त ज्ञान भी व्यर्थ है जिससे किसी प्रकार का परोपकार न हो।'

१४-१५—अनुष्टु

अनुष्टुप् के चारों पादों में पाँचवाँ अक्षर लघु, तथा छठा गुरु होता है। दूसरे और चौथे पाद में सातवाँ अक्षर भी लघु रहता है। इसके अनेक भेद होते हैं पर लक्ष्य के अनुसार उन सबका प्रधान गुण श्रव्यता है। जैसे भगवान् व्यास का यह पद्य:—

ततः कुमुद नाथेन कामिनी गण्ड पाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥

'इसके अनन्तर कामिनियों के कपोल के समान पीले तथा नेत्रों को सुख देने वाले चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया।

१६--भुजग शिशुभृता

नगण, नगण तथा भगण नौ अक्षरों के छन्द को छन्दोविद् 'भुजग शिशुभृता' कहते हैं। जैसे ग्रन्थकार का निम्नलिखित पद्य:—

न नमति चरणौ भक्त्या किमिति जडमतिर्लोकः।
भव भय शमनौ शंभोर्भुजग शिशुभृतावग्रे ॥

जड बुद्धि वाला यह संसार शिव के उन चरणों में क्यों प्रणाम नहीं करता जो संसार के भय को नाश करने वाले हैं और सर्पों द्वारा धारण किये गये हैं।

१७--रुक्मवती

भगण, मगण, सगण और अन्त में एक गुरु, इस प्रकार दश अक्षर वाले छन्द को छन्द शास्त्री रुक्मवती छन्द कहते हैं। जैसे ग्रन्थकार का यह पद्य:—

भग्नमसत्यैः काम सहस्रै मोहमयी गुर्वी भव माया।
स्वप्नविलासा योगवियोगा रुक्मवती हा कस्यकृते श्रीः ॥

'सहस्रों असत्य शरीर भग्न हो जाते हैं। संसार की मोहमयी माया गुर्वी है। लक्ष्मी स्वप्न के विलासों के समान आनी-जानी है। यह स्वर्ण मयी लक्ष्मी किसी की भी नहीं होती।

१८—इन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा में दो तगण, एक जगण और दो गुरु अक्षर होते हैं। इस प्रकार इसमें ग्यारह अक्षर आते हैं। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

'तौ जन्मगूढौ चरणेन यस्य कष्टौ निविष्टौ हृदि कामकोपौ।
तं दुःसहास्ता ज्वलदिन्द्र वज्र पातोपमाः क्लेशदशा विशन्ति॥

'जन्म से ही छिपे हुए, कष्ट दायक काम और कोप जिसके हृदय में चरण रखकर प्रविष्ट हो जाते हैं। उस पर इन्द्र के वज्र के तुल्य कठोर तथा असह्य क्लेश दशायें गिरती हैं।

१६—उपेन्द्र वज्रा

जगण, तगण, जगण तथा दो गुरु, इस प्रकार ११ अक्षरों का छन्द उपेन्द्र वज्रा है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

जितो जगत्येष भवभ्रमस्तै,
गुरूदितं ये गिरिशं स्मरन्ति।
उपास्यमानं कमलासनाद्यैः,
रूपेन्द्र वज्रायुध वारि नाथैः॥

'उन्होंने संसार के भ्रम को जीत लिया जो गुरु के उपदेश से शिव का स्मरण करते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तथा वरुण भी उनकी (शिव की) उपासना करते हैं।'

२०—उपजाति

इन्द्र वज्रा तथा उपेन्द्र बज्रा के पदों के परस्पर योग से उपजाति छन्द बनता है। ये योग अनेक हो सकते हैं अतः इस छंद के भेद भी अनेक होते हैं।

२१—दोधक

तीन भगण तथा दो गुरु, ग्यारह अक्षरों का छंद दोधक होता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

भो भव विभ्रम भंगुर भोगाः,
गच्छत नास्त्यधुना मम मोहः,
तिष्ठति चेतसि चंद्रकलाभृत्,
भक्त जनाभयदोऽथ कपाली।

'अरे संसार के क्षणिक भोगो, चले जाओ। अब मुझे मोह नहीं रहा। भक्त जनों को अभय देनेवाले चंद्रशेखर शिव मेरे हृदय में बैठे हैं।'

२२—शालिनी

एक मगण, दो तगण तथा दो गुरु, इस प्रकार ग्यारह अक्षरों का छन्द शालिनी है। इसमें पहले चार अक्षरों के बाद विराम होता है, जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

मत्ता गोष्टीगर्भ गूढ प्रलापा,
प्रौढ़ा गाढालिंगिता यौवनेन।
मध्वाताम्रस्वेदमीलत्कपोला,
लोला लीलाशालिनी कस्य नेष्टा॥

'ऐसी लीला शालिनी युवती, जो मधु पीकर मस्त बनी अस्त-व्यस्त आलाप करती है तथा जिसके कपोल तांबे के से रंग के एवं स्वेद संसिक्त हो जाते हैं—वह किसे प्रिय नहीं लगती।'

२३—रथोद्धता

रगण, नगण, रगण, लघु तथा गुरु इस प्रकार के ग्यारह अक्षरों का छन्द रथोद्धता कहलाता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

रम्य नर्म कलभोग तर्जनी,
भ्रूलतेव तरलारियोषिताम्।
वैजयन्त्यभिमुखी रणे रणे,
भाति ते नरपते रथोद्धता॥

'हे राजन्, तुम्हारे रथ पर फहराने वाली चंचल पताका युद्ध में सामने आकर भ्रू लता के समान शत्रु की स्त्रियों को शृंगार भोग का तर्जन सा करती है।

२४—स्वागता

रगण, नगण, भगण तथा दो गुरु इस प्रकार के ग्यारह अक्षरों का छन्द स्वागता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

रत्नभंग विमलै गुण तुंगै,
रर्थिनामभिमतार्पण सक्तै:।
स्वागता भिमुख नम्र शिरस्कै,
र्जीव्यते जगति साधुभिरेव॥

'जो सत्पुरुष रत्नों के टुकड़ों के समान निर्मल, अपने गुणों के कारण उन्नत, याचकों के अभिमत दातार तथा स्वागत के लिये सिर झुकाये रहते हैं, संसार में वे ही जीवित हैं।'

२५—तोटक

मध्य में बिना यति के चार सगण वाला बारह अक्षर का छन्द तोटक कहलाता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

सरसः स्मरसार तरो वयसः,
समयः स्मृति शेष दशा पतितः।
गलिताखिल राग रुचि विंजने,
परितोऽट कपालकरः सुमते॥

'आयु का वह सरस भाग जिसमें स्मर का सार अधिक रहता है, स्मृति शेष रह गया है। अतः हे सुमति, समस्त राग और रुचियों का त्यागकर हाथ में कपाल लिये निर्जन स्थानों में भ्रमण करो।'

२६—वंशस्थ

जगण, तगण, जगण, रगण,—इस क्रम से बारह अक्षरों का छन्द वंशस्थ होता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

जनस्य तीव्रातपजार्ति वारणा
जयन्ति सन्तः सततं समुन्नताः।
सितात पत्र प्रतिमा विभान्ति ये,
विशाल वंशस्थतया गुणोचिताः॥

'मानव के तीव्र संताप तथा कष्टों को निवारण करने वाले सदा समुन्नत सन्त लोगों को जय हो जो गुणी एवम् विशाल वंशस्थ[1] होने के कारण श्वेत छत्र जैसे लगते है।

२७—द्रुत विलंबित

'जिसमे नगण, भगण, भगण, रगण, इस क्रम से बारह अक्षर होते हैं वह द्रुत विलंबित छन्द है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

नभसि भर्ग गलच्छविभिर्घनै
द्रुतबिलंबितगैः परिवारितः।
सितकरः कलहंस इवाभितः,
तरति संवलितो यमुनोर्मिभिः॥

'शिवजी के कण्ठ की सी छवि वाले तथा शीघ्र एवं विलंब से दौड़ते हुए बादलों में घिरा हुआ चन्द्रमा आकाश म ऐसा लगता है जैसे यमुना की तरंगों में घिरकर तैरता हुआ हस।

१ —विशाल वंशस्थ = बड़े बाँस पर स्थित छत्र तथा उच्च कुल में अवस्थित सन्त लोग।

२८—प्रहर्षिणी

मगण, नगण, जगण, रगण तथा एक गुरु, इन तेरह अक्षरों का छन्द प्रहर्षिणी होता है। प्रारम्भ के तीसरे अक्षर पर यति होती है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

मानौजः सुरभिगुणैर्यशःसितानाम्,
निर्व्याजा निज भुज विक्रम क्रमाप्ता।
सर्वाशाप्रणयिजनोपजीव्यमाना,
भव्यानां भवति परप्रहर्षिणी श्रीः॥

'मान, ओज आदि गुणों के कारण यशस्वी बने व्यक्तियों की अपने भुज विक्रम से कमाई हुई लक्ष्मी निर्व्याज होती है। वह सब ओर के प्रणीय जनों को आजीविका एवं हर्ष प्रदान करती हैं।

२९—वसन्ततिलका

तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु इस प्रकार चौदह अक्षरों का छन्द वसंततिलका होता है। जैसे—ग्रंथकार का यह पद्य—

तद्भाजि जन्मसचिवे भगवत्यनंगे,
प्राप्ते लसत्कुसुम मण्डल पाण्डुरेण।
भृंगावली कुटिल कुंतल संनिवेशा,
कान्ता वसन्ततिलकेन विभूषिताभूः॥

'जन्म के मित्र भगवान कामदेव के आजाने पर पृथ्वी रूपी कान्ता खिले पुष्पों के पीले वसंत तिलक से तथा भ्रमरों के कुटिल कुंतल से विभूषित होगई।'

३०—मालिनी

दो नगण, मगण तथा दो यगण के पन्द्रह अक्षरों का आठवें अक्षर पर विराम युक्त छंद मालिनी होता है। जैसे ग्रंथकार का निम्नलिखित पद्य—

'ननननमय वाणी मेखला कृष्टि काले,
प्रविचलदिव शीलं नोत्सृजन्ती दुकूलम्।
तृणलवचलनेऽपि स्वैरिणी शंकमाना,
दिशि दिशि कृत दृष्टि मालिनी कस्य नेष्टा॥

'स्वैर विहारिणी नायिका रतिकाल में मेख खिंचते समय 'न, न, न' करके गिरते हुये शील के समान दुकूल को न छोड़ती

हुई, तिनके के हिलने पर भी शंकित होकर चारों ओर दृष्टि डालने वाली किस को प्रिय न होगी ?'

३१—नर्कुटक

नगण, जगण, भगण, दो जगण तथा लघु और गुरु के सत्रह अक्षरों का विराम रहित छन्द नर्कुटक होता है, जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

निजभुज जैर्विशाल गुण कीर्ति भरैः
प्रविदधता सुधांशुधवलं भवता भुवनम्।
कथय कथं कृतेयमति राग वती जनता,
चरितमपूर्व मेव नव कस्य न नर्कुटकृत ॥

'अपनी भुजाओं के विशाल गुण तथा कीर्ति कर्मों से भुवन भर को चन्द्रमा जैसा धवल तुमने बनाया है फिर भी इस जनता को, कहो, अतिराग वती कैसे बना लिया ? तुम्हारा अपूर्व चरित सब को आश्चर्य में डालता है।'

३२—पृथ्वी

जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु तथा गुरु के सत्रह अक्षरों का आठ, नौ पर विराम वाला छंद पृथ्वी होता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य;—

जवात्स रजसा युतः श्रम विसंस्थुलांगः पथा,
व्रजन्सतत सेवकः पिशुनधाम वेश्म प्रभोः।
कदाचिदवलोकनैः फलविवर्जितैर्मन्यते,
जडः कर समर्पितामिव मदेन पृथ्वी मिमाम् ॥

'सदा का सेवक वेग के कारण धूलसने पैरों से श्रम शिथिल अंगों को लेकर जब चुगलखोरों से भरे स्वामी के घर में प्रवेश करता है तो उस पर यदि स्वामी की फल शून्य दृष्टि पड़ जाय तो वह जड़ यह समझता है कि सारी पृथ्वी उसके हाथ में आगई।'

३३—हरिणी

नगण, सगण, मगण, रगण, सगण तथा लघु और गुरु सत्रह अक्षरों वाला छंद हरिणी होता है। इसमें छः, चार, सात पर विराम रहता है। ग्रंथकार का यह पद्य उदाहरण है:—

न समरसनाः काले भोगाश्चलं धन यौवनम्,
कुरुत सुकृतं मावन्नेयं तनुः प्रविशीर्यते।
किमपि कलना कालस्येयं प्रधावति सत्वरा,
तरुण हरिणी संत्रस्तेव प्लवप्रविसारिणी ॥

'भोग का रस हर समय एक सा नहीं होता। धन और यौवन चलायमान होते हैं। जब तक यह शरीर बिखर नहीं जाता तब तक अच्छे कर्म करो। काल का यह स्वभाव है कि वह भय में छलांग मारकर भागती हुई तरुण हरिणी की भाँति वेग से भागता है।'

३४—शिखरिणी

यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु तथा गुरु के सत्रह अक्षरों का छन्द शिखरिणी होता है। इसमें छः ग्यारह पर यति होती है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य —

यथा मन्युर्लीनः सचविभवभग्नः स्मरपद,
स्तथा जाने जाता शम समय रम्या परिणतिः।
इदानीं संसार व्यतिकर हरा तीव्र तप से,
विविक्ता गुक्ता में गिरिवरमही सा शिखरिणी ॥

'प्रतीत होता है कि यह वैराग्य वेला का रमणीय परिणाम है कि जिस प्रकार क्रोध विलीन हो गया उसी प्रकार स्मर का भी वैभव भग्न हो गया है। अब तो संसार की सब उपाधियों से परे एकांत तथा शिखरमयी पर्वत भूमि ही तीव्र तपस्या के लिये उपयुक्त है।

३५—मन्द्राक्रान्ता

मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरुः सत्रह अक्षरों का चार, छः, सात पर विराम युक्त छन्द मंद्राक्रांता होता है।

मध्ये भंगी वलनविततापांग संसंग भाजः
स्मर्यन्तेत यदि धृतिमुषः पक्ष्मलाक्षी कटाक्षाः।
तत्किं मिथ्या नियमनिभृतैः कानने धीमते धीः,
मंदाक्रांता दिशति निशिता पन्नगी पाणिसक्ता ॥

'मध्य में तारे के घुमाव से फैले हुए अपांगों का स्पर्श करने वाले, धैर्य के चोर तुम्हारे पक्ष्मल कटाक्षों का यदि स्मरण आता रहे तो नियमों में कसे हुए व्यक्ति वन में जाने का विचार व्यर्थ ही करते हैं। हाथ में लगी सर्पिणी धीरे से सरक कर काट लेती है।

३६—शार्दूलविक्रीडित

मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु उन्नीस अक्षरों का बारह, सत्रह पर विराम वाला छंद शिखरिणी होता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य :—

> माद्यत्सज्ज समाततोग्र सुभटोद्भिन्नेभकुंभस्थल,
> श्लिष्यन्मौक्तिक दन्तुरः सरभसोद्वेल्लद्यशः केसरः।
> श्रृंगारंभ भयंकर व्यति कर त्रस्तः समुल्लासितः,
> शत्रूणां त्वदसिः करोति समरे शार्दूलविक्रीडितम् ॥

'युद्ध के लिये तैयार हुए मद मस्त सैनिकों के हाथी के से कुंभस्थल फाड़कर उनके मोतियों से दंतुर बनी, वेग से फैलते हुए यश के केसरों से युक्त तथा जँभाई के समान अपने प्रक्षेपों से सैनिकों को डराने वाली तुम्हारी तलवार शत्रुओं के बीच सिंह की क्रीडा करती है।

३७—स्रग्धरा

मगण, रगण, भगण, नगण, तथा तीन यगणों से इक्कीस अक्षर का प्रत्येक सातवें अक्षर पर विराम वाला छंद स्रग्धरा है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य—

> सारारंभानुभावप्रियपरिचयया स्वर्गरङ्गांगनानाम्
> लीला कर्णावितंसश्रियमतनु गुण श्लेषया संश्रयन्त्या।
> आभाति व्यक्त मुक्ताविचकिल लवली वृन्द कुन्देन्दुकान्त्या,
> त्वत्कीर्त्याभूषितेयं भुवन परिवृढ स्रग्धरेव त्रिलोकी ॥

'हे पृथ्वी पति तुम्हारी कीर्ति त्रिलोकी भर को माला की भांति भूषित करती है। वह सार गुणों से युक्त है एवम् प्रचुर गुणों से अप्सराओं के कर्णाभरण की शोभा प्राप्त कर लेती है। उसकी कांति चमकते मोती, खिले हुए लौंग तथा कुन्द के पुष्प एवं चंद्रमा के समान हैं।

इस प्रकार जो ऊपर रुचिर छंदों को व्यक्त किया गया है वे सभी के हितके लिये हैं क्योंकि वे सरल हैं:, सब प्रकार के काव्यों के उचित हैं, अच्छे कवियों ने इनका व्यवहार किया है तथा कानों को प्रिय लगते हैं। इनमें कठोर विषम मात्रायें या दुर्विराम आदि दोष कुछ नहीं हैं।

दूसरा विन्यास

गुण दोष विवेचन

१—प्रसिद्ध छन्दों के लक्ष्य लक्षणों का संग्रह कर दिया गया है। अब उनके गुण दोषों का प्रदर्शन किया जाता है।

२—छः सात अक्षरों के छन्द पर सरस्वती उसी प्रकार विश्राम नहीं करती जैसे मालती की बाल कलिकाओं के अग्र भाग पर भ्रमरी नहीं बैठती।

३—छोटे छन्दों की शोभा समासों से तथा बड़े बड़े छन्दों की शोभा असमासों से होती है अथवा उपयोग वश वे भव्य बनते हैं।

४-५—अनुष्टुप् छन्द के विषय में जो वह सामान्य लक्षण कुछ लोगों ने किया है कि उसमें पांचवाँ अक्षर लघु तथा छठा गुरु होता है यह सार्वत्रिक नहीं है। बड़े बड़े प्रबंधों में इसका व्यभिचार भी देखा जाता है। इसलिये सार्वत्रिक नियम श्रव्यता ही कहा जा सकता है। जैसे कालिदास का यह पद्य—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दु रिन्दुः क्षीरानधाविव ॥

उस शुद्ध वंश में और भी अधिक शुद्ध राजश्रेष्ठ दिलीप उत्पन्न हुआ, जैसे क्षीर सागर में चन्द्रमा उत्पन्न होता है।'

इस श्लोक में पहले पाद में 'शु' गुरु है, होना चाहिये लघु। 'धि' लघु है, होना चाहिये गुरु। पर श्रव्यता पद्य में है।

६—उपजाति के विकल्प रूपों में यद्यपि संकर सिद्ध है। फिर भी पूर्व पाद का अक्षर लघु करना चाहिये। जैसे उत्पल राज का यह पद्यः—

हृतांजन श्याम रुचस्तवैते,
स्थूलाः किमित्यश्रुकणाः पतन्ति।
भृंगा इव व्यायत पंक्तयो ये,
तनीयसीं रोमलतां श्रयन्ति ॥

'धुले काजल से काले बने तुम्हारे ये मोटे मोटे अश्रुबिन्दु क्यों गिर रहे हैं। लबी पंक्ति वाले भौरों के समान ये छोटी रोमलता का सहारा लेते हैं।'

इस पद्य का पहला अक्षर 'हृ' लघु है।

७-८—लघु अक्षर से पद्य का मुख धागे के समान तीक्ष्णाग्र हो जाता है। वह कान में निर्विघ्न प्रवेश करता है तथा उसकी सरलता

भी बनी रहती है। पर गुरु अक्षर से उसका मुख गांठ वाले धागे के समान रुद्ध हो जाता है। वह स्थूल होकर कान को कष्ट देता है। जैसे कालिदास का यह पद्य:

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य,
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

उत्तर दिशा में देवता तुल्य हिमालय पर्वत है। वह पूर्व और पश्चिम समुद्रों का अवगाहन कर स्थित है अतः पृथ्वी का मानदण्ड जैसा लगता है।

यहाँ पहला अक्षर 'अ' तथा पू' गुरु है।

९—दोधक छन्द तीन तीन अक्षरों के योग से बना है। उसमें तीसरे अक्षर पर ही यति हो तो अच्छा लगता है। इससे अधिक या थोड़े अक्षरों पर वह हो तो उसका ताल सा टूटता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

सज्जन पूजन शीलन शोभाम्,
मर्जय वर्जय दुर्जन संगम्।
दुस्तर संसृति सागर वेगे,
मज्जन कारण वारण मेतत्॥

'सत्पुरुषों के सत्कार की शील शोभा का अर्जन करो। दुर्जनों की संगति छोड़ दो। संसार रूपी कठिन सागर में वह डूबने से बचाता है।'

इससे अधिक या कम पर विराम जैसे तुंजीर के इस पद्य में:—

त्वन्मुख चन्द्र निरीक्षण वर्त्या,
यः सुतरामिह निर्मल नेत्रः।
सर्वजनस्य पुरः स्थित मेतत्,
सोन्तकवर्त्म न पश्यति चित्रम्॥

'तुम्हारे मुखचन्द्र को देखने से जिसके नेत्र भलीभांति निर्मल हो जाते हैं वह फिर सब मनुष्यों के सामने के मृत्युमार्ग को नहीं देखा करता। कैसा आश्चर्य है।'

इस पद्य में तीसरे अक्षर पर शब्द समाप्त नहीं होते अतः वहाँ विराम भी नहीं है जैसे दूसरे पाद में 'सुतराम्' के 'त' पर शब्द समाप्त होना चाहिये था।

१०—शालिनी छन्द का बंध स्वभाव से शिथिल होता है। अतः मन्दी दीप शिखा के समान उसे यत्न से उत्तेजित करना चाहिये। शिथिल बंध जैसे ग्रन्थकार के इस पद्य में:—

प्लोष क्लेशं प्रोषितानां दिशन्ती,
मान म्लानिं मानिनीनाम् दधाना।
गाढं सक्ता सद्गुण ग्लानि दाने,
चन्द्रस्य श्री दुर्जनस्येव जाता॥

'चन्द्रमा की आभा दुष्ट की संपत्ति के समान प्रवासियों को दाह का क्लेश दे रही है; मानियों के मान को क्षीण बना रही है और श्रेष्ठ गुणों का कम करने में लगी है।'

यहाँ छोटे छोटे शब्दों में शिथिल बंध है, अतः असुन्दर लगता है।

११—यदि शतृ प्रत्ययान्त शब्दों के योग से तथा विसर्गों के द्वारा शब्द योजना कर्कश हो जाय तो यह छंद दीप्त हो जाता है अतः श्रेष्ठ है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

लज्जा मज्ज ल्लोल तारांत कांता,
स्तिर्यङ् नियत्केतकी पत्र तीक्ष्णाः।
मग्ना श्चित्ते कस्य निर्याति भूयः,
प्रेमोन्मील त्पक्ष्म लाक्षो कटाक्षाः॥

'पद्मलाक्षी युवतियों के प्रेम कटाक्ष लज्जा से डूबते और चंचल तारों के अंत भाग से सुंदर हो जाते हैं। तिरछे निकलते हुए वे केतकी के पत्र जैसे तीक्ष्ण यदि किसी के चित्त में प्रविष्ट हो जायें तो फिर निकलते नहीं हैं।

१२—शिथिलता के कारण शालिनी का माधुर्य रुक जाता है जैसे किसी मंदाग्नि वाले व्यक्ति की रुचि दूध से और अधिक मंद हो जाती है।

१३—रथोद्धता छंद के पादान्त यदि विसर्ग युक्त हों तो वह कलाविज्ञ सुन्दरी की भाँति और अधिक आकर्षक हो जाता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

अत्र चैत्र समये निरन्तराः,
प्रोषिता हृदय कीर्ण पावकाः।

वान्ति कामुक मनो विमोहना,
व्याल लोल मलयाचलानिलाः ॥

'यहाँ चैत्र मास में मलयाचल की हवायें निरन्तर बहती हैं। वे साँपों की भाँति चंचल बनी कामुकों के मन को मोह लेती हैं और प्रोषिताओं के हृदयों में पावक बखेर देती है।

इसमें प्रत्येक पाद के अन्त में विसर्ग है।

१४—यदि इसमें पाद के अन्त में विसर्ग न हों तो वह इसी प्रकार फीका हो जाती है जैसे बिना प्रार्थना के प्रेम करने वाली मानिनी नायिका। कलश कवि का यह पद्य उदाहरण है:—

अंजलौ जलमधीर लोचना,
लोचन प्रति शरीर शारितम्।
आत्त प्राप्तमपि कान्त मुच्छितुम्,
कातरा शफर शङ्किनी जहौ ॥

'अधीर लोचना नायिका ने कान्त पर छिड़कने के लिये जल हाथ में लिया। पर नेत्रों के प्रतिबिंब से उसमें मछलियों की आशंका से कातर होकर फिर छोड़ दिया।'

यहाँ पादान्त में विसर्ग नहीं हैं।

१५—स्वागता छन्द के पादान्त में यदि 'आ' के अनन्तर विसर्ग हों तो उसकी चारुता बढ़ जाती है और वह काव्य सौन्दर्य के लिये अधिक उपयोगी होती है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य—

व्यावलन्ति तरला जलधारा,
पान्थ संगमधृतेः परिहाराः।
प्रान्त रत्ननिभ विद्युदुदाराः,
प्रावृषः पृथुपयोधर हाराः ॥

'पथिकों के संगम के धैर्य को दूर करने वाली चंचल जल-धार गिरती हैं और बादल वर्षा के हार जैसे तथा उनके प्रान्त भाग की बिजलियाँ रत्न जैसी प्रतीत होती हैं।'

यही बात ग्रंथकार के इस पद्य में नहीं है:—

अंबरेम्बु भरलंबि पयोदे,
मत्त बर्हि रुचिरेद्रिनितंबे।
पुष्पधामनि कदंब कदंबे,
का रतिः पथिक काल विलंबे ॥

'आकाश में जल के भार से बादल लटकने लगे हैं, पर्वतों पर मस्त होकर मयूर नाचने लगे हैं और एक एक कदंब पुष्पों का घर बन चुका है।

'पथिक, ऐसे समय में विलंब करने से तुम्हारी क्या गति होगी?'

१६—तोटक छंद वह प्रिय लगता है जिसके पदों में रूखे अक्षर हों तथा शीघ्र शीघ्र ताल और लय हों। जो चित्त को नचा सा दे। जैसे ग्रंथकार का यह पद्यः—

मद घूर्णित लोचन षट चरणम्,
घन राग मतंगकरा भरणम्।
कमल द्युति मुग्ध वधू बदनम्,
सुकृती पिबतीह सुधा सदनम्॥

'मुग्धबधू के ऐसे मुख का जिसके नेत्र मद से घूर्णित होकर भौरे की भाँति घूमते हैं; जिनका राग घना हो जाता है; जो कामदेव के हाथों में आभूषण बनता है; कमल की सी जिसको द्युति होती है और जो सुधा का सदन होता है—पुण्यात्मा लोग ही पान करते हैं।'

१७—वंशस्थ छन्द तब अमूल्य बन जाता है जब इसके पादों में असमस्त पदों के प्रयोग से संधि विच्छेद का सौन्दर्य हो या पादों के अंत में विसर्ग आते हों। जैसे बाणभट्ट का यह पद्यः—

जयन्ति बाणासुर मौलिलालिताः,
दशास्य चूडामणि चक्र चुंबनः।
सुरासुराधीश शिखान्त शायिनः॥
तमश्छिद त्र्यंबक पाद पांसवः॥

'बाणासुर का मस्तक जिनका लालन करता था; जो रावण की चूडामणियों के समूह को चूमते थे तथा जो सुर और असुरों के स्वामियों के शिर पर लोटते हैं इन अंधकार को दूर करने वाले शिवजी के चरण रेणुओं की जय हो।'

यहाँ पादान्त मे विसर्ग हैं।

इसके विपरीत भी उन्हीं का पद्य यह है:—

नमामि भर्वोश्चरणांबुजद्वयं सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्।
समस्त सामन्त किरीटवेदिका विटंक पीठोल्लुठितारुणांगुलि॥

'भर्वु के चरण कमलों को मैं प्रणाम करता हूँ जिनका मुकुटधारी मौखरी लोग अर्चन करते हैं तथा जिनकी लाल अंगुलियाँ समस्त सामंतों के किरीटों की वेदिका पर लोटती हैं।'

१८—द्रुत विलंबित तब अच्छा लगता है जब उसका प्रारंभ पदों के द्रुत विन्यास से तथा अवसान विलंबित विन्यास में होता है और पादों में संधियाँ नहीं होतीं। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य:—

कमल पल्लव वारि कणोपमम्,
किमिव पासि सदा निधनं धनम्।
कलभ कर्ण चलाचल चंचलम्,
स्थिर तराणि यशांसि न जीवितम्॥

'कमल पत्र की जल विन्दुओं के समान अस्थिर धन की तू क्या रक्षा करता है? यह तो हाथी के बच्चों के कान की भांति चंचल है। स्थिर तो यश होते हैं जीवन भी नहीं।'

इसमें समास होने पर भी पद संधि रहित हैं। ग्रंथकार के इस पद्य में पदों का विलंबित विन्यास है द्रुत नहीं।

निपटतां भ्रमतां विनिमज्जतां प्रविशतां परिवार शतैरधः।
तनुभृतां भव एव भवार्णवे भयमये भगवान वलंबनम्॥

'भय से भरे संसार रूपी समुद्र में गिरते हुये, चक्कर काटते हुए, डूबते हुए, तथा अपने सैकड़ों परिवारों के साथ नीचे धँसते हुए प्राणियों के लिए भगवान शिव ही सहारा हैं।'

१९—प्रहर्षिणी छन्द से तब हर्ष होता है जब उसके प्रत्येक पाद में मन्द लय वाले तीन तीन अक्षरों के पद हों और शेष पदों का लय द्रुत गामी हो। जैसे श्री हर्ष का यह पद्य:—

दुर्वारां कुसुम शरव्यथां वहन्त्या,
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।
तद्भूयः शिशु शुक सारिकाभिरुक्तं,
धन्यानां श्रवण पथातिथित्वमेति॥

'कामदेव की असह्य व्यथा को धारण करने वाली कामिनी ने सखियों के समक्ष जो कहा हो उसे तोता मैना के मुख से जो सुनते हैं वे धन्य हैं।

इसके विपरीत ग्रंथकार का यह पद्य है:—

संकोच व्यति कर वद्ध भीति लोलै
र्निर्याद्भ भ्रमर भरैः सरोरुहेभ्यः।
आरब्धः क्षणमिव संध्यया जगत्याम्,
उत्पत्यै घन तिमिरस्य बीजवापः।

'संकोच के भय से चंचल अतएव कमलों से बाहर निकलते हुए अनेक भौंरों से सन्ध्या ने क्षण भर के लिये पृथ्वी पर घने अन्धकार की उत्पत्त के लिये बीज बो दिया।'

२०—वसन्त तिलका का यदि प्रथम शब्द 'आकार' युक्त हो तो इसकी कान्ति और ओज और अधिक विकसित हो जाता है। जैसे रत्नाकार विद्याधिपति का यह पद्य:—

कठ श्रियं कुवलय स्तबकाभिरामं,
दामानु कारि विकटच्छवि काल कूटाम्।
बिभ्रत्सुखानि दिशता दुपहार पीत—
भूपोत्थ धूम मलिना मिव धूर्जटिर्वः॥

'कुवलय के गुच्छों की सुन्दर माला का अनुकरण करने वाले काल कूट से युक्त कठ श्री को धारण करते हुए भगवान् शिव तुम्हें सुख प्रदान करें, उनका कठ—मानों भेंट की गई जड़ियों के पीने पर उनके धुंये से मलिन हो गया था।

२१—पहले 'आ' के आ जाने पर भी पद यदि छोटे छोटे हों तो इसकी रमणीयता घट जाती है। जैसे परिमल कवि का यह पद्य:—

अच्छासु हंस इव बाल मृणालिकासु,
भृंगो नवास्विव मधुद्रुम मंजरीषु।
को वन्तिभर्तुरपरो रस निर्भरासु,
पृथ्वी पतिः सुकविसूक्तिषु बद्धभावः॥

'जिस प्रकार अच्छी बाल मृणालिकाओं में हंस तथा मधु वृक्षों की नवीन मंजरियों में भौंरे मन लगाता है उस प्रकार रस से पूर्ण सूक्तियों में अवन्ति नाथ के बिना कौन राजा अनुराग करता है ?

२२—मालिनी के पादान्तों में यदि बिसर्ग न हों तो वह पुछकटी चमरी और परकटी बेन की भाँति अच्छा नहीं लगता। जैसे भट्टवल्लट का यह पद्य—

वरमिह रवि तापैः किं न शीर्णासि गुल्मे,
किमु दवदहनैर्वा सर्वदाहं न दग्धा।
यदहृदयजनौघैर्वृन्त पर्णानभिज्ञ,
रितर कुसुम मध्ये मालनि प्रोम्भितासि ॥

'मालति, यदि गुल्म में ही सूर्य की धूप से तुम झुलस जातीं या बन की आग से बिल्कुल जल जातीं तो अच्छा होता। डंठल और पत्तों को न जानने वाले हृदय हीन लोगों ने तुम्हें दूसरे फूलों में गूंथ दिया है।'

यहाँ 'दहनैः' 'तापैः' आदि में विसर्ग हैं। सम्पूर्ण पाद विसर्ग हीन जैसे कालिदास के इस पद्य में।

अथ स ललित योषिद् भ्रूलता चारु शृंगम्,
रति वलय पदाके चाप मासज्य कण्ठे।
सहचर मधु हस्त न्यस्त चूतांकुरास्त्रः,
शतमख मुपतस्थे प्रांजलिः पुष्पकेतुः॥

'इसके बाद कामदेव चंचल युवतियों की भौओं के समान शृंग वाले धनुष को रति के वलय से अंकत अपने कंठ पर रखकर तथा अपने सखा बसन्त के हाथ में आम्र मंजरी का अस्त्र थमाकर हाथ जोड़े हुए इन्द्र के पास उपस्थित हुआ। इसके पहले दूसरे पद में कहीं भी विसग नहीं हैं।

२३—मलिनी के दोनों पाद यदि द्वितीयार्थ में समस्त हों तो वह श्रेष्ठ होती है। वे ही यदि प्रथमार्ध में समस्त हों तो वह भद्दी हो जाती है। गान्दिनक के इस पद्यार्थ के पाद का द्वितीयार्ध समस्त है।—

करतरलित बंधं कंचुकं कुर्वतीनाम्
प्रति फलित मिदानीं दैप माताम्र मर्चिः।
स्तनतट परिणाहे भामिनीनां भविष्य,
न्नख पद लिपि लीला सूत्र पात करोति ॥

'दीपक का लाल प्रकाश कंचुकों के बंधों को ढीला करने वाली युवतियों के उन्नतस्तनों पर प्रति फलित होकर होने वाली नख-क्षत की लिपि लीला का सूत्र पात कर कर देता है।' राज शेखर के इस पद्य में पाद के प्रथमाधे में समास नहीं है।

इहहि नवबसन्ते मंजरी पुंज रेणु,
च्छुरणधवल देहा बद्ध हेलं सरन्ति।
तरल माल समूहा हारि हुंकार कंठा,
बहुल परि मलाला सुन्दरं सिन्दु वारम ॥

यहां बसन्त के नवागम में भौंरे मंजरियों की रेणु में धवलित होकर आकर्षक हुंकार का कंठ में लिये हुए घने परिमल से सुंदर बने चंचल सिन्दुवार पुष्प पर हेला देकर गिरते हैं।

२४—मालिनी छंद में बेसुरे पन को साधारण भावुक भले ही समझ न सके पर वह सुनकर उद्वेग का अनुभव करता है। जैसे भट्टेन्दु राज के इस पद्य में:—

रहसि हृत दुकूला शीलिता तैल दीपे,
त्वदुप गत समृद्धेः प्रेयसी श्रोत्रियस्य।
थिंकरोति पट वासैं हन्ति कर्णावतंसैः,
शमयति मणिदीप पाणि फूत्कानिलेन ॥

'तुमसे समृद्धि प्राप्त करने वाले श्रोत्रिय की प्रेयसी को तेल के दीपक का अभ्यास था। एकान्त में उसके वस्त्र उघाड़े गये तो वह मणि दीपकों को भी वस्त्रों से बुझाने लगी; कर्णावतंस उस पर फेंकने लगी और हाथ की या मुंह की वायु से उसे शान्त करने लगीं।

२५—इसमें गुरु आदि की व्यवस्था ठीक है पर फिर भी त्वदुपगत समृद्धेः' वाला पाद कानों को दुष्ट प्रतीत होता है।

२६—नर्कुट छंद में तब चारुता आती है जब उसमें पहले दो, फिर तीन, फिर चार और अन्त में पाँच अक्षरों पर विच्छेद हो। जैसे वीर देव के इस पद्य में:—

तव शत पत्र-पत्र मृद ताम्र तल श्चरणश्,
चल कल हंस नूपुर वर ध्वनिना मुखरः।
महिष महासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः,
सकल महीधरेन्द्र गुरुतां कथमंब गतः ॥

'माता कमल पत्र जैसा कोमल एवं लाल तथा कल हंसों की सी मधुर ध्वनि वाले नूपुर से मुखर बना तुम्हारा चरण बलात् महिषा-

सुर के सिर पर रख गया तो वह समस्त पर्वतों से भी अधिक भारी कैसे हो गया? उसी का यह पद्य इसके विपरीत है। :—

सशिखि शिखेव धूम निचितां जन शैल गुहा,
सकपिश पन्नगेव यमुनोन्नत नील शिला।
महिष महा सुरोपि हित भासुर शूल करा,
बहुल निशेव भासि सतडिद् घुघ मेव यना॥

'तुम महिषासुर पर रखे चमकते हुए शूल को हाथ में लेकर अग्नि शिखा से युक्त धूआं भरी अंजन पर्वत की गुफा के समान, पीले सांप से युक्त यमुना में उठी नील शिला के तुल्य और बिजली की रेखा से युक्त बादलों वाली कृष्ण पक्ष की रात्रि के तुल्य प्रतीत होती हो।'

२७—पृथ्वी छंद स्वभावतः बड़ा है। इसकी शोभा असमस्त पदों से होती है। समासों की ग्रन्थियों से तो वह संकुचित और लघुसा हो जाता है। साहिल के इस श्लोक में असमस्त पद हैं।

कचग्रह मनुग्रहं दशनखंडनं मंडनम्,
दृगंचन मवंचनं मुखरसार्पणं तर्पणम्
नखादन मतर्दनम् दृढ मपीडन पीडनम्।
करोति रति संगरे मकर केतनः कामिनाम्॥

'कामियों के लिये कामदेव रतिकाल में कचग्रह को अनुग्रह, दंतक्षत को मंडन और मुखरस के प्रदान को तृप्ति बना देता है। इस समय तिरछी दृष्टि वंचना नहीं रहती। नख पीडन पीडन नहीं रहता एवं दृढ़ता से आलिंगन की पीडा का न होना ही दुःखदायक होता है। यहां बड़े-बड़े समास नहीं हैं। बड़े समास ग्रंथकार के इस पद्य में हैं :—

कचग्रह समुल्ल सत्कमल कोष पीडाजड,
द्विरेक कल कूजितानुकृत सीतकृतालंकृताः।
जयन्ति सुरतोत्सव व्यतिकरे कुरंगीदृशाम्,
प्रमोद मद निर्भर प्रणयचुंबिनो विभ्रमाः॥

'मृगनयनियों के सुरत काल के विभ्रमों की जय हो जिनमें कचग्रहण के समय कमल कोष की पीडा से पीड़ित होकर कूजन

करने वाले भौंरे के स्वर के समान सीत्कार रहते हैं और प्रमोद के आवेग में जिनमें प्रणय चुंबनों की अधिकता होती है।'

२८—इसमें यदि आकार से गंभीर एवं ओजगुण प्रधान शब्दों का समास रहता है तो वह और अधिक दीर्घ सा लगता है। जैसे भट्टनारायण का यह पद्य:—

महा प्रलय मारुत क्षुभित पुष्करावर्तक,
प्रचंड घन गर्जित प्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवण भैरवः स्थगित रोदसी कन्दरः,
कुतोऽद्य समरोदधे रयभूत पूर्वः श्रुतः॥

'महाप्रलय की वायु से क्षुब्ध हुए पुष्करावर्तक मेघों के गर्जन का अनुकरण करने वाला, आकाश और पृथ्वी के अन्तराल को भरता हुआ, सुनने में भयंकर यह समर सागर का अभूतपूर्व शब्द आज किधर से सुनाई पड़ा?

२९—शीघ्र शीघ्र जिनमें विच्छेद रहते हैं ऐसे पदों से हरिणी छंद शोभन हो जाता है। दीर्घ समासों को मंथर गति के शब्दों से वही फिर निःस्पन्द सा बन जाता है। दीपक कवि के इस पद्य में तरल पदों का प्रयोग है।

तनु धनहर क्रूर स्तेनोत्कटां विकटाटवीम्,
तरति तरसा शौर्योत्सेकात् स्वसार्थवशाज् जनः।
पुरवर वधूलीला वलात्कटाक्ष बलाकुले,
नगर निकटे पन्थाः पान्थ स्फुटं दुरतिक्रमः॥

'पथिक, घने जंगलों का भयानक मार्ग क्षुद्रधन के चोरों से क्रूर हुआ करता है पर अपने साथियों की सहायता एवं पुरुषार्थ बल से पुरुष उसे पार कर जाता है। पर नगरों के निकट तो यह नागरी वधुओं के लीला कटाक्षों से आकुल रहता है। वहाँ पार पाना कठिन है।

भट्टेन्दुराज के इस पद्य में पद मंथर हैं—

गुण परिचयस्तीर्थे वासस्थिरो भय पक्षता,
वपुरतिदृढं वृत्तं सम्यक सखे तव किं पुनः।
सरति सुमते यत्त्वां पातुं दृशा विनिमेषया,
बडिश विषमं तस्याक्षेपं करोषि सहाम्बुभिः॥

'जाल, तुम्हारा गुणों से परिचय है; तीर्थ पर वास है। दोनों पक्ष तुम्हारे स्थिर हैं। शरीर दृढ़ है और वृत्त भी अच्छा है। फिर यह कितना विषम है कि जो निर्निमेष होकर देखने के लिये तुम्हारी ओर बढ़ता है उसे तुम प्राणों के साथ खींच डालते हो।'

३०—यदि तीन पादों में विश्राम वाले पद हों और चौथे में गति तरल हो तो यह छन्द और अधिक मनोहर बन जाता है। जैसे भट्टेन्दुराज का यह पद्य—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगा,
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भि रवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया,
चरण नलिनन्यासोदंचन्न वांकुर कंचुकः॥

'पथिको गोदावरी की कछारों वाले इस मार्ग को छोड़ दो। आप दूसरा पथ देख लें। यहाँ तो किसी युवती ने हताश होकर अपने चरण कमल के आघात से रक्त अशोक पर नये अंकुर ला दिये हैं।'

३१—शिखरिणी छंद में समारोह होने से ओज आता है। यदि लुप्त विसर्गान्त पदों का प्रयोग हो तो यह अत्यन्त उन्नत हो जाता है। जैसे मुक्ता कण कवि का यह पद्य—

यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चल जलद धूमः स्थगयति,
स्फुलिं गानां रूपं दधति च यथा कीट मणयः।
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसन परि पिंगाश्च ककुभः,
तथा मन्ये लग्नः पथिक तरुखंडे स्मरदवः॥

'चलते फिरते बादलों का धुआँ आकाश रंध्र को जो भरता है; पटबीजने जो स्फुलिंगों का रूप धारण करते हैं और बिजली की ज्वालाओं से दिशायें जो पीली हो जाती हैं तो प्रतीत होता है कि पथिक रूपी तरु समूह में कामाग्नि लग गई है।'

यहाँ भाव और भाषा दोनों में समारोह है। भट्ट श्यामल का पद्य इसके विपरीत है।

१—पद्य में श्लेष की सहायता से अन्योक्ति द्वारा वंचकों के चरित्र की व्यंजना की है। अनेक शब्द द्वयर्थक हैं। गुण—रस्सा और सद्गुण। उभयपक्ष—डाचि वाला और दोनों सिरे। वृत्त—वेंट और चरित्र।

धृतो गंडाभोगे मधुप इव बद्धोऽब्जविवरे,
विलासिन्या मुक्तो बकुल तरुमा पुष्पयति यः।
विलासो नेत्राणां तरुण सहकार प्रियसखः,
सगंडूषः सीधोः कथमिव शिरः प्राप्स्यतिमधोः॥

'जो विलासिनी के गंडस्थल पर रहता है, भौंरे के समान जो कमल में बँधता है, विलासिनी यदि छोड़े तो मौलिश्री को जो पुष्पित कर देता है; नेत्रों के विलास का हेतु एवं तरुण सहकार का प्रिय सखा उसके आसव का गंडूष मधु के सिर तक किस प्रकार पहुँचेगा ?'

३२—शिखरिणी के पद यदि विभक्त होते हैं तो उसका स्वरूप हीन बन जाता है। जिस प्रकार मुक्तालता में सूत्र न रहने से बिखरे हुए मोतियों का रूप बिगड़ जाता है। जैसे भट्टभवभूति का यह पद्य—

असारं संसारं परि मुषित रत्न त्रिभुवनम्,
निरा लोकं लोकं मरण शरणं बान्धव जनम्।
अदर्पं कदर्पं जन नयन निर्माण मफलम्,
जगज् जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः॥

'संसार को असार, त्रिभुवन को रत्नहीन, लोक को आलोक रहित, बान्धवों को मरणशील, काम को दर्प शून्य, जन-नयनों की निष्फल तथा जगत को जीर्ण अरण्य बनाने पर तू क्यों तुला है।'

यहाँ पद प्रायः विच्छिन्न हैं एतएव इसमें ओज का अभाव है।

३३—पद्यार्थ में चमत्कार तथा रस दोनों हैं पर छंद का स्वरूप अपहृत-सा है।

३४—मन्दाक्रांता छन्द के प्रथम चार अक्षर मंद गति के हों और मध्य के छः चतुर विन्यास के अर्थात् न अधिक शीघ्रगामी और न अधिक मंद तो वह शोभायमान होता है। जैसे कालिदास का यह पद्यः—

ब्रह्मावर्तं जनपद मधश्छायया गाहमानः,
क्षेत्रं क्षत्र प्रधन पिशुनं कौरवं तद् भजेथाः।

राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारासारैस्त्वमिव कमलान्यभ्यषिंचन मुखानि ॥

'जब तुम अपनी छाया से ब्रह्मावर्त में प्रवेश करो तो क्षत्रियों के निधन के सूचक कौरव प्रदेश में जाना। वहाँ पर अर्जुन ने अपने सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से राजन्यों के मुखों को इसी प्रकार मंडित किया था जैसे तुम अपनी धाराओं से कमलों को सींचते हो।'

यहाँ प्रथम चार अक्षर 'ब्रह्मावर्त' में गर्त के हैं। बाद के छः 'जनपदमधः' में गति कुछ त्वरित है। आदि और मध्य में समान गति वाले अक्षर कालिदास के ही इस पद्य में हैं:—

कश्चित्कान्ता विरह गुरुणा स्वाधिकार प्रमत्तः,
शापेनास्तं गमित महिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनक तनया स्नान पुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छाया तरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥

'अपने कर्त्तव्य के प्रमादी किसी यक्ष ने कान्ताविरह से दारुण, और वर्ष भर के भोग से पूरा होने वाले शाप के कारण महिमा खोकर चित्रकूट के आश्रमों में निवास बनाया। वे आश्रम जिनके वृक्षों की छाया सघन थी—और जल जानकी के स्नान से पवित्र बन गये थे।'

३५—शार्दूल विक्रीडित छन्द के पादान्त अक्षर सविसर्ग एवं 'आ' आदि अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले हों तो उसका प्रभाव बढ़ जाता है, जैसे भट्टश्यामल का यह पद्य:—

आलानं जय कुंजरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः,
पूर्वाद्रिः करवाल चंद्रमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृत सागर प्रमथन क्रीडाविधौ मन्दरो,
राजन् राजति वीर वैरि वनिता वैधव्यदस्ते भुजः ॥

'हे राजन् आपकी भुजा जय कुंजर का आल्लान है; विपत्तियों के समुद्र का पत्थरों का सेतु है; तलवार के सूर्य का पूर्वाद्रि है; श्री का लीला उपधान है। संग्राम रूपी अमृत सागर के मथ डालने में मन्द्राचल एवं वैरिवानिताओं को वैधव्य प्रदान करने वाला है।'

यहाँ पहला अक्षर 'आलान' आकारादि है। पादान्त में सब विसर्ग वाले पद हैं। लाट डिंडार कवि का यह पद्य इसके विपरीत है।

चित्रं ताव दिदं सुरेन्द्र भवनान्मंदाकिनी पाथसा,
केनाप्युत्तम तेजसा नृपतिना क्ष्मामण्डलं मण्डितम् ।
नातश्चित्रतरं निशाकरं कला लावण्य दुग्धोदधे,
भूमेर्यद्भवना दिवं च नगरी कीर्तिप्लवैः प्लाव्यते ॥

वह अद्भुत है कि किसी उत्तम तेज वाले राजा ने स्वर्ग से लाकर गंगाजल द्वारा पृथ्वी मंडल को भूषित कर दिया। पर इससे अधिक कोई आश्चर्य नहीं कि आप चन्द्रकलाओं के लावण्य दुग्ध के समुद्र बनकर स्वर्ग को पृथ्वी से कीर्ति का बहाव ले जाकर बहा देते हो।'

३६—विसर्गों को यदि 'ओ' होता हो तो इस छन्द के पद ऊँचे नीचे होकर पढ़ने में परिश्रम पैदा कर देते हैं। जैसे मुक्ताकण का यह पद्य—

लीला चामर डंबरो रतिपतेर्बालाम्बुदश्रेयणयो,
रागोद्दण्ड शिखण्डिनो मुख विधूद्भूतास्तमोविभ्रमाः।
सौगन्ध्योद्धत धावदाकुल वलन्मत्तालिमालाकुलो,
धम्मिल्लो हरिणी दृशां विजयते स्रस्तो रतिव्यत्यये ॥

'विपरीत रति के समय मृगनयनियों के केशपाश की जय हो। वह उस समय कामदेव का लीलाचमर, मयूरों के प्रेम में उद्धत बनाने वाला बाल मेघों का समूह, मुखचन्द्र से निकला अंधकार एवं सुगन्धि से मस्त होकर दौड़ने वाले भ्रमरों के समूह से व्याकुल बन जाता है। यहाँ 'डंबरो' श्रेणयोआदि में 'ओ' है।

३७—इसके पूर्वार्ध में यदि पद पृथक हों और द्वितीयार्ध समास वाला हो तो यह अच्छा लगता है अन्यथा निकृष्ट। जैसे भट्टभवभूति का यह पद्यः—

अज्ञानाद् यदि वाधिपत्य रभसा दस्मत्परोक्षंहृता,
सीतेयं प्रतिमुच्यतां शठ मरुत्पुत्रस्य हस्तेऽधुना।
नोचेल्लक्ष्मण मुक्त मार्गण गणच्छेदोच्छलच्छोणित,
च्छत्रच्छन्न दिगन्त मन्तकपुरं पुत्रैर्वृतो यास्यसि ॥

'हे शठ, यदि अज्ञान से अथवा राजा होने के गर्व से हमारे परोक्ष में सीता का तुमने हरण किया है तो अब उन्हें मुक्त कर दो। यह बात आज वायुपुत्र के हाथ में है। नहीं तो लक्ष्मण के द्वारा छोड़े

गये बाणों से छलछलाते रक्त के छत्रों में ढके हुए तुम पुत्रों के साथ नरक को जाओगे। किन्तु कवि का यह पद्य इसके विपरीत है।

स्नातुं वाञ्छसि किं मुधैव धवल क्षीराब्द फेनच्छटा,
छाया हारिणि वारिणि द्युसरितो डिंडीर विस्तारिणी।
आस्ते ते कलि काल कल्मष मषी प्रक्षालनैकक्षमा,
कीर्तिः संनिहितैव सप्तभुवन स्वच्छन्द मंदाकिनी॥

'क्षीर सागर की धवल फेन घटाओं के समान श्वेत, और दिगंत व्यापी गंगाजल में तुम व्यर्थ ही क्यों स्नान करना चाहते हो। कलिकाल के पापों की स्याही धोने में अकेली ही समर्थ स्वच्छ मंदाकिनी तुम्हारी कीर्ति की है तो सही।

३८—इसके आदि और अन्त के भाग सर्वातिशायी हों तो उनके उत्कर्ष की कान्ति से छंद भी गौरव एवं उन्नति का लाभ करता है। जैसे कालिदास का यह पद्यः—

गाहन्तां महिषा निपान सलिलं शृंगे मुहुस्ताडितं
छाया बद्ध कदंबकं मृगकुलं रोमन्थ मभ्य स्यतु।
विस्रब्धैः क्रियतां वराहपति भिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले,
विश्रान्तिं लभतामिदंच शिथिलज्या बद्ध मस्मद्धनुः॥

भैंसे सींगों से बार-बार टक्कर देते हुए जलाशयों में लोट लगावें, मृग छाया में झुँड बाधे जुगाली करें। सूअर विस्रंभ से पोखरों में मोथा बिगाड़ें और यह धनुष भी ढीली प्रत्यंचा में विश्राम ले।

३९—आदि और अन्त में 'आ' न हो और अन्त में विसर्ग भी न हों तो इस छंद का स्वरूप लुप्त सा हो जाता है। जैसे श्री यशोदा वर्मा का यह पद्य :—

यत्त्वन्नेत्र समान कान्ति सलिले मग्न तदिन्दीवरं,
मेघै रन्तरितः प्रिये तव मुखच्छाया नुकारी शशी।
ये पि त्वद्गमनानसारि गतयस्ते राज हंसा गताः,
त्वत्सा दृश्य विनोद मात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

'प्रिये' तुम्हारे नेत्रों के समान कांति वाला इन्दीवर पानी में डूब गया। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाला चंद्रमा

बादलों में ढक गया। तुम्हारे गमन का अनुसरण करने वाली गति के राज हंस भी चले गये। दैव यह भी सहन नहीं करता कि तुम्हारे सादृश्य मात्र से भी मैं विनोद करलू"।

४०—इस पद्य में रस सुकुमार है। उसकी रक्षा के लिये उद्धत प्रकृति का छंद प्रयुक्त हुआ है। कवि की परिपक्क वाणी हास छंद ऋतु बन गया है।

४१—यदि आदि में गुरू युक्त अक्षर हों तथा अन्त में विसर्गों वाले पद हों और मध्य-मध्य में विराम रहे तो स्रग्धरा छंद बहुत अच्छा लगता है। राजशेखर का यह पद्य उदाहरण है।

> तांबूली नद्ध मुग्धक्रमुक तरुलता प्रस्तरे सानुगाभिः,
> पाय पायं कलायी कृत कदलिदलं नारि केली फलांभः।
> सेव्यन्तां व्योमयात्रा श्रम जल जयिनः सैन्य सीमन्ति नीभिः,
> दात्युह व्यूह केली कलित कुह कुहा राव क्रान्ता वनान्ताः॥

'सैनिकों के साथ चलने वाली वनितायें पान की बेलों में बंधे हुए सुपारी के तरु कुंजों में पत्थरों पर केलों के पत्तों के पात्रों में नारियल का जल पी पीकर यात्रा की थकान के पसीनों को दूर करने वाले एवं दात्यूह पक्षियों के कुह कुहा शब्द से आक्रान्त वनान्तों का सेवन करें। चक्र कवि का यह पद्य इसके विपरीत है।

> सत्यं पाताल कुक्षिम्भरि चिर विल सद्दि करि प्रीणिताभ्रं,
> श्रीगर्भश्वमभ्रं लिह लहरि हरिस्थान मप्येच किंचित्।
> कल्पान्ते व्याप्त विश्वं परि रटति सरिन्नाथ पाथस्त्वदीयं
> किन्त्वेतत् कुंभ योनेः करकुहरदरी पूरमाचाम तो भूत्॥

'यह सत्य है कि, समुद्र, तुम्हारा जल पाताल की कोखों को भर देता है। दिग्गज इसमें चिर काल तक विलास करते हैं। यह बादलों को तृप्त तथा लक्ष्मी को अपने उदर में लिये रहता है। यह विष्णु का स्थान है। इसकी लहरें आकाश को चाटती हैं। प्रलय के समय विश्वभर में यह फैल जाता है। पर आचमन करते समय अगस्त्य की तो अंजुलि में ही वह समा गया।

४२—आदि और अन्त में 'आ' अक्षर न रखने से स्रग्धरा छंद का दोष स्फुट हो जाता है फिर भी आदि अन्त में विसर्गान्त पद हैं तो कार्य चल जाता है। जैसे ग्रंथकार का यह पद्य :—

शौर्यश्रीकेशपाशः करि दलन मिलन्मौक्तिक स्तबक पुष्पः,
क्षोणी रक्षा भुजंगः कुल शिखर लुठत् कीर्ति निर्मोक पट्टः।
शत्रु व्रात प्रताप प्रलय जलधर स्फार धारा करालः,
प्रीत्यै लक्ष्मी कटाक्षः कुवलय विजयी यस्य पाणौ कृपाणः॥

'जिसके हाथ में कुबलयों और लक्ष्मी के कटाक्षों के समान सुन्दर कृपाण हाथियों का मस्तक फाड़ कर मोतियों के पुष्पों से युक्त होकर शौर्य श्री का केशपाश बनती है, पृथ्वी की रक्षा करने वाली वीर है, पर्वतों पर लेटती हुई कीर्ति की पताका है तथा शत्रुओं के प्रताप को बुझाने के लिये अनेक बादलों का समूह है'।

४३—इस प्रकार सूक्ष्मतः छन्दों का क्रम दिखाया गया है। समझदार लोग इसी दिशा से सब का विचार करलें।

४४-४५—शालिनी के मध्य में कुछ अक्षर बढ़ा देने से वह मंदाक्रांता हो जाता है। इसी प्रकार अन्त में एक अक्षर बढ़ा देने से वंशस्थ छन्द उपेन्द्रवज्रा बन जाता है। यह सब इसलिये नहीं दिखाया है कि यह तो स्वतः सिद्ध है। छन्दों को न जानने वाला इसे समझ नहीं पाता। जानकार के लिये इसका फिर उपयोग क्या ?

४६—छन्द चर्चा के इन अत्यंत सूक्ष्म विचारों में वाणी के नाना गुणों से परिचित एवं दोषों की विविध सूक्ष्मताओं को भी समझने वाले योगियों के समान सूक्ष्म प्रतिभा के लोगों के लिये ऐसी बातें कहीं गई हैं जो उनकी पहुँच के भीतर हैं।

तीसरा विन्यास

१ · मोतियों के समान उचित स्थान पर रखे गये निर्दोष एवं गुण युक्त छन्दों से प्रबंध की शोभा बढ़ जाती है।

२—वाणी का प्रसार चार प्रकार का होता है—शास्त्र, काव्य, शास्त्रकाव्य तथा काव्य शास्त्र।

३—काव्यवेत्ता लोगों ने शास्त्र उसे बताया है जिसमें काव्य के सब लक्षण विद्यमान हों। काव्य में विशिष्ट शब्द और अर्थ का साहित्य रहता है तथा अलंकार उसमें विद्यमान होते हैं।

४—शास्त्र काव्य में प्रायः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार वर्ग का वर्णन और सबके लिये उपदेश रहता है। भट्टि तथा भौमक कवि का रावणार्जुनीय काव्य काव्यशास्त्र हैं।

५—कुछ लोग केवल शास्त्र में भी काव्य तत्त्व का प्रयोग करते हैं; जिस प्रकार कड़ुई औषधि के रस से उद्वेग हो जाने पर ऊपर से थोड़ा गुड़ या चीनी दे दी जाती है। जैसे वाग्भट ने वैद्यक शास्त्र के इस पद्य में किया है।

मधु मुखमिव सोत्पलं प्रियायाः
कल रसना परिवादिनी प्रियेव।
कुसुम चय मनोहरा च शय्या,
किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा॥

'कमल पुष्प से युक्त मधु प्रिया के मुख जैसा एवं सुन्दर शब्द करने वाली वीणा प्रिया के समान होती है। पुष्प चय से मनोहर बनी शय्या नये पत्ते और पुष्पों से लदबदाई लता के समान हो जाती हैं।'

६—शास्त्र शैली की रचना का अर्थ यत्नपूर्वक अनुष्टुप छन्द के प्रयोग द्वारा सरल बनाना चाहिए जिससे वह सबके उपकार के लिये स्पष्ट रूप से सेतु का कार्य करे।

७—काव्य में रस और वर्णन के अनुसार सब छन्दों का प्रयोग करना चाहिये और प्रतिपाद्य के विभाजन को भी कवि को ज्ञान होना चाहिये।

८—शास्त्रकाव्य में अधिक लंबे वृत्तों की आवश्यकता नहीं है। काव्यशास्त्र में भी काव्यज्ञ को रस के अधीन छन्दों का प्रयोग करना चाहिये।

९—पुराण के समान लिखे गये उपदेश प्रधान सरल शैली के काव्यों में भी सब में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग करना चाहिये।

१०--प्रभु के समान सिद्धहस्त कवि के प्रयोग से अनेकों अत्यन्त अयोग्य छन्द भी योग्य बन जाते हैं

११—महाभारत में गायों को लेने के लिये विकट संग्राम हुआ तो उसमें समय विशेष के अनुसार जो घोड़े विराट पुत्र के थे वे ही फिर अर्जुन के बन गये थे। (इसी प्रकार छन्द भी योग्य कवि के प्रयोग से अयोग्य भी योग्य हो जाते हैं)

१२—फिर भी सज्जनों की भांति सुन्दर शब्द एवं पदों से युक्त प्रबन्ध काव्य सौंदर्य दशा के अनुरूप छन्दों में ही शोभा पाते हैं।

१३--अपने स्वेच्छाचार से रत्नों की भांति यदि वृत्तों का अनुचित प्रयोग हो तो वे गले में पहनी मेखला के समान मूर्खता की ही सूचना करेंगे।

१४—रमणीय नेत्रों वाली किसी नवयौवन संपन्न रमणी की रुचि चिरकाल से स्मर व्यापारों को छोड़े हुए किसी ऐसे वृद्ध के प्रति नहीं होती है जिसके बाल बुढ़ापे से पक जाते हैं।

१५—इसलिये छन्दों का यथास्थान विनियोग हो इस प्रयोजन के लिये उदाहरणों से दिशानिर्देश करते हुये उनकी संगति इस अध्याय में दिखाई जाती है।

१६—सर्गबंध के प्रारम्भ में; जहाँ विस्तृत कथा का संक्षेप में निर्देश किया जाता है और जहाँ शान्त उपदेशों का वृत्तान्त होता है वहाँ कवि लोग अनुष्टुप छन्द की प्रशंसा करते हैं। भर्तृमेण्ठ कवि ने निम्न श्लोक में प्रारम्भ में यही किया है:—

आसीद्दैत्यो हयग्रीवः सुहृद् वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥

'हयग्रीव नाम का दैत्य था जिसके मित्रों के घरों में श्वेत छत्र के रूप में मुसकराती लक्ष्मी उसकी भुजाओं के बल को फैलाती

थी।' कथा के संक्षेपतः निर्देश के अवसर पर जैसे—अभिनंद का यह पद्य—

तस्यां निज भुजोद्योग विजितारातिमण्डलः।
आखंडल इव श्रीमान् राजा शूद्रक इत्यभूत्॥

'उसमें (नगरी में) अपनी भुजाओं के उद्योग से शत्रु मंडल को जीतने वाला इन्द्र के समान श्रीमान् शूद्रक नाम का राजा हुआ।'

शान्त उपदेश के समय जैसे।

पृथुशास्त्र कथा कन्था रोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञै ज्योति रान्तरम्

'बड़े शास्त्र और कथाओं के समूह की व्यर्थ की जुगाली करने से क्या लाभ? ज्ञानियों को यत्न पूर्वक अपनी आंतरिक ज्योति की खोज करनी चाहिये।'

१७—श्रृंगार रस के आलंबन विभाव के रूप में यदि किसी उदार नायिका का वर्णन हो या चमत्कार के साथ उसके अंग, स्वरूप वसन्तादि ऋतुओं का वर्णन हो तो उपजाति छन्द का प्रयोग होना चाहिये। रूप वर्णन जैसे कालिदास का—

मध्येन सा वेदि विलग्न मध्या
वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणाथ नवयौवनेन,
कामस्य सोपान मिव प्रयुक्तम्॥

'उस बाला पार्वती के मध्य भाग पर सुन्दर त्रिबली पड़ गईं। नव यौवन ने कामदेव के चढ़ने के लिये मानो सीढ़ियाँ लगा दीं।

उसी का बसन्त वर्णन जैसे—

बालेन्दु वक्राण्य विकास भावाद्
बभुः पलाशा न्यति लोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानाम्
नखक्षतानीव बनस्थली नाम्॥

'ढाक के फूल पूरे विकसित नहीं हुए थे अतः बाल चन्द्रमा की भांति टेढ़े वे अत्यधिक लाल वर्णों के ऐसे प्रतीत हुए मानों वसन्त के साथ नवीन समागम करने वाली बनस्थलियों को उसके नखक्षत लगे हैं।'

१८— चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों के वर्णन में रथोद्धता छंद तथा षांगुण्य प्रधान नीति के वर्णन में वंशस्थ छन्द शोभा पाता है। चन्द्रोदय के वर्णन में जैसे कालिदास का यह पद्य—

'अगुलीभिरिव केशसंचयं
सं नियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृत सरोज लोचनम्,
चुंबतीव रजनी मुखं शशी॥

'उंगलियों के समान किरणों से केश जैसे अन्धकार को सम्हालकर चंद्रमा सरोजरूपी नेत्रों को मूँदने वाले रजनी का मुख चूमता सा है।'

नीति जैसे भारविके पद्य में

श्रियःकुरूणामधिपस्य पालनीम्।
प्रजासु वृत्तं यमयुंक्त वेदितुम्।
स वार्णिलिंगी विदितः समाययौ,
युधिष्ठिरं द्वैतवने बनेचरः।

'कुरु प्रदेशों की श्री के स्वामी दुर्योधन की प्रजापालन की वृत्ति को जानने के लिये जिसे नियुक्त किया था वह ब्रह्मचारी वेष-धारी बनेचर सब कुछ जान कर द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास आया।'

१९—वीर और रौद्ररस के संकर में वसन्त तिलका छन्द का प्रयोग होना चाहिये। सर्ग के अन्त में द्रुत ताल की भाँति मालिनी छंद ठीक रहता है। जैसे वीर रौद्र में रत्नाकर का यह पद्यः—

जृंभा विकासित मुखं नख दर्पणान्त,
राविष्कृत प्रतिमुखं गुरुरोषगर्भम्।
रूपं पुनातु जनित रिचमू विमर्श,
मुद्वृत्त दैत्यवध निर्वहणं हरेर्वः॥

'भगवान नृसिंह का वह रूप आपकी रक्षा करे जिसमें जँभाई लेने में मुँह चमकने लगता था और नख रूपी दर्पण में वही मुख प्रतिबिंबित होकर दूसरा मुख बन जाता था; जिसमें भयानक रोष छिपा हुआ था, शत्रुओं की सेना का जिसने विनाश किया था और उद्धत दैत्य का जिससे वध हुआ था।'

सर्ग के अन्त में मालिनी कालिदास ने प्रयुक्त की है—

अवचित बलि पुष्पा वेदि संमार्गदक्षा,
नियम विधि जलानां वर्हिषां चापनेत्री।
गिरिश मुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी,
नियमित परिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः॥

'सुकेशी पार्वती शिवजी की सेवा करने लगी। वे बलि के लिए पुष्प चुनकर लाती थीं, वेदी को बुहारने में निपुणता प्रदर्शित करती थीं; नियमतः जल और कुशायें लाती थीं। यह सब करने में शिवजी के शिर के चन्द्रमा की किरणों से उनकी थकान कम हो जाती थी।'

२०—युक्तिपूर्वक दो तथ्यों के परस्पर भेद दिखाने में शिखरिणी और उदारता के रुचिर औचित्य विचार में हरिणी छन्द ठीक रहते हैं। युक्ति संगत भेद के प्रदर्शन में शिखरिणी जैसे भर्तृहरि कीः—

भवन्तो वेदान्त प्रणिहितधियामत्र गुरवो,
विचित्रालापानां वयमपि कवीन मनुचराः।
तथाप्येवं ब्रूमो नहि परहितात् पुण्यमपरं,
नचास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रम्यपरम्॥

'आप वेदान्त का ध्यान करने वालों के गुरु हैं। हम भी विचित्र आलाप करने वाले कवियों के सेवक हैं। फिर भी हम यह कहते हैं कि संसार में परोपकार से बढ़कर कोई दूसरा पुण्य नहीं है और कमलनयनियों से बढ़कर दूसरा कुछ सुन्दर नहीं है।

उदारता के भाव में हरिणी का प्रयोग भी इन्हीं का जैसेः—

विपुल हृदयै रन्यैः कैश्चिद् जगज्जनितं पुरा,
विधृत मपरैर्दत्तं चान्यै र्विजित्य तृणं यथा।
इहहि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते,
कतिपय पुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः॥

'कुछ उदार लोगों ने पहले संसार बनाया। कुछ ने इसको धारण किया और कुछ ने इसे जीतकर तिनके की भाँति दूसरों को दे डाला। यहाँ कुछ धीर लोग चौदहों भुवनों का भोग भी करते हैं। फिर कुछ थोड़े से नगरों के स्वामित्व पर लोगों को यह मद-ज्वर कैसा?'

२१—आक्षेप, क्रोध या धिक्कार के भावों को पृथ्वी छंद संभालता है। वर्षा, प्रवास तथा अन्य प्रकार की विपत्ति के वर्णन में मंद्राक्रांता छन्द अच्छा लगता है। जैसे आक्षेप में यशोवर्मा का पद्य—

स यस्य दशकंधरं कृतवतोपिकक्षान्तरे,
गतः स्फुटमवन्ध्यतामधि पयोधि साग्ध्यो विधिः।
तदात्मज इहांगदः प्रहित एष सौमित्रिणा,
कसकस दशाननो ननु निवेद्यतां राक्षसः॥

'दशकंधर को बगल में पकड़कर जिसे समुद्र पर संध्या करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित हुई उसी का पुत्र अंगद लक्ष्मण का भेजा हुआ यहाँ आया है। वह दशानन कहाँ है ? उस राक्षस को यह समाचार दे दो।'

वर्षा प्रवास में मंदाक्रांता का प्रयोग जैसे कालिदास का यह पद्य—

तस्मिन्नद्रौ कति चिदबला विप्रयुक्तः सकामी,
नीत्वा मासान् कनक वलय भ्रंश रिक्त प्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघ माश्लिष्ट सानुं,
वप्रक्रीडा परिणत गज प्रेक्षणीयं ददर्श॥

'प्रिया से वियुक्त बने कामी यक्ष का पहुँचा सुवर्ण वलय के गिर जाने से रीता हो गया था। उसने वहाँ पर्वत पर कुछ मास बिताये। जब आषाढ का पहला दिन आया तो उसने पर्वत शिखरों का आश्लेष करते हुये, दन्त प्रहार की क्रीड़ा में लगे हाथी की भांति दिखाई पड़ने वाले बादल को देखा।'

२२—राजाओं के शौर्य आदि की प्रशंसा में शार्दूल विक्रीडित और वेगसहित पवन आदि के वर्णन में स्रग्धरा छन्द उचित लगता है। शौर्य स्तुति में श्री चक्र का यह पद्य—

नेतुं नौभिरिभा न यान्ति दृतिभिस्तार्याः कियन्तो हयास्,
तज्जानुद्वयसेन देव पयसासैन्यं समुत्तार्यताम्।
नोचेद्भंगभय द्रुतारि वनिता नेत्र प्रणाली लुठद्,
वाष्पाम्भः प्लव पूरितो भय तटी द्रागुत्स्यतीरावती॥

'हे देव, हाथी नावों से नहीं ले जाये जा सकते। घोड़े भी मशक की नावों से कितने उतर सकेंगे। इसलिये सेना को शीघ्र तब तक पार कर दीजिए जब तक पानी घुटनों तक है। नहीं तो विनाश के भय से भागते हुये शत्रुओं की वनिताओं के नेत्र जल की नाली के जल से इरावती नदी शीघ्र ही इतनी भर जायगी कि इसके दोनों तट जल में डूबने लगेंगे।

आवेग के साथ पवन के वर्णन में ग्रंथकार की पवन पंचाशिका का यह पद्य—

प्रेंखच्छंखाभिघात स्फुट दलित चलच्छुक्ति निर्मुक्त मुक्ता,
मुक्त व्यक्ताट्टहासाः स्मर नृप सकल द्वीप संचार चाराः।
सर्पत्कर्पूर पूर प्रवणक रचिता दिग्वधू कर्णपूरा,
धावन्त्या ध्मात विश्वा रतविधुतवधू वान्यवा गंधवाहाः ॥

'रति खिन्न वधुओं के उपकार करने वाले पवन बह रहे हैं। चलते हुए शंखों के आघात से सीपियाँ खुल जाती हैं और मोती बाहर गिर पड़ते हैं। इनका व्यक्त अट्टहास मुक्त हैं और कामदेव के सब द्वीपों में इनका संचार है। ये सरकते हुए कपूर के ढेर को लिये हैं और दिग्वधुओं के कर्ण पूर जैसे बन जाते हैं। समस्तविश्व को इन्होंने भर दिया है।'

२३—मुक्तक स्वभाव के सूक्तों में दोधक, तोटक और नर्कुट छंद का प्रयोग अच्छा लगता है। उनके विनियोग में विषय अथवा अन्य किसी प्रकार के नियम का प्रतिबन्ध नहीं है।

२४—और दूसरे छंद जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है वे भी चमत्कार मात्र के साधन हैं। किसी विशेष विषय का प्रति बन्ध उनके साथ नहीं है। इसी लिये वे यहाँ नहीं दिखाये गये हैं।

२५—वाणी जिनके वश में है और सब छन्दों पर जिनका समान अधिकार है उनके लिये यहाँ छन्दों का विशेष प्रकार का विनियोग और विभाग दिखाया गया है।

२६—जिन कवियों ने एक या दो तीन छन्दों में ही परिश्रम किया है उनके लिये ये विनियोग नहीं हैं। वे तो उत्सव में दरिद्रों की भांति के लोग हैं।

२७—कवि को अभ्यास से जिस छन्द में विशेष प्रगल्भता प्राप्त हो जाय उसे चाहिये कि वह अपने प्रबन्ध में उसी छन्द का विशेष प्रयोग करे।

२८—पहले कवियों का भी किसी एक छन्द के प्रति विशेष आदर दिखाई पड़ता है। उनका उस छन्द विशेष में तो बड़ा चमत्कार रहता है शेष में केवल प्रारंभ किये की पूर्ति रहती है।

२९—अभिनंद कवि की वाणी अनुष्टुप छन्द में अधिक अभ्यस्त है। वही छन्द विद्याधर के मुख में तो जादू की गोली का सा प्रभाव देने वाला बन जाता है।'

३०—पाणिनि कवि की प्रशंसा उपजाति छन्दों से अधिक हुई है जैसे चमकते पुष्पों से उद्यान की प्रशंसा होती है।

३१—वंशस्थ सब छन्दों में श्रेष्ठ है। इसका चमत्कार विचित्र है। इसने अपनी छाया से भारवि की प्रतिभा को बहुत बढ़ा दिया।

३२—रत्नाकर कवि के मुख रूपी कान में जो वाग्वल्ली है वह वसन्ततिलका छन्द रूपी वसन्त के तिलक वृक्ष पर आरूढ़ और उसका गाढ़ आलिंगन किये हुए है तभी उस पर चमत्कार की कलियाँ खिल उठी हैं।

३३—भवभूति की वाणी की निर्बंध सरिता शिखरणी छन्द के शिखर से प्रकट होती है। उनके घने संदर्भ में वह छन्द सुन्दर मयूरी की भाँति नाचता सा लगता है।

३४—कालिदास के वश में आकर मंद्राक्रांता बड़े बड़े भाव व्यक्त करता है। जिस प्रकार अच्छे प्रकार के अश्वशासक के हाथ में आकर कंबोज (अफगानिस्तान) देश की घोड़ी रंगत दिखाती है।

३५—राजशेखर की ख्याति शार्दूल विक्रीडित छन्द से हुई है जैसे कोई पर्वत अपने ऊँचे मेड़े शिखरों से ऊँचा हो जाता है।

३६—इस प्रकार पुराने कवियों की गति यद्यपि सभी छन्दों में समान थी फिर भी वे हार में चौके समान किसी विशेष छन्द में अधिक आदरवान् रहे हैं।

३७—सुवर्ण से बने हारों के समान अच्छे वर्णनों से युक्त प्रबन्धों में रत्नों की भांति छन्दों का यदि यथास्थान उचित प्रयोग होता है तो उसकी शोभा बहुत बढ़ जाती है।

३८—जिस प्रकार से छन्द स्थापना का यह विनियोग-मार्ग दिखाया है उसी प्रकार कवियों को प्रयोग करना चाहिये। लेकिन जिनका वाणी पर पूरा वश नहीं है उनके लिए यह नियम नहीं।

३९—इस प्रकार मैंने जो कहा है वह बुभूषु कवियों के लिये प्रारम्भ में बड़ा उपयोगी है। वाणी में जिनकी प्रवृत्ति खुल गयी है उनको इससे विवेक मिलेगा। महाकवियों को भी यह सूक्ष्म तत्त्व-विचार हर्ष प्रदान करने वाला होगा।

४०—इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने मित्रों की विपत्तियों को हटाने वाले, आश्चर्यजनक कार्यों के कर्त्ता, भुवन विजयी—राजा अनन्तराज के राज्य में अपनी शक्ति के कारण वाणी के क्षेत्र में प्रसिद्ध कवियों का संग्रह कर उन छन्दों को प्रदर्शित किया है जो औचित्यपूर्ण रचनाओं में प्रसिद्ध हैं और कर्ण-मधुर हैं।